विषय सूची

नोट:—इन २१ कथनों में से कथन नं० १५, १७, १८, १९, व २० के कथनों का तो प्रस्ताव में आधार ही नहीं बताया गया है अत उन पर विचार ही नहीं किया जा सकता।

शुद्धि-पत्र

पेज नं०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
१३	अंतिम	हिंसादिवश	हिंसादिवत्
३१	१	कमबंध	कर्मबन्ध
५२	२	लमिति	मलमिति

सोनगढ़ साहित्य आगमानुकूल है

(२१ उद्धरणों की वास्तविकता एवं विवेचन)

गत ३० वर्षोंमें दिगम्बर जैन समाजमें सोनगढ़ के श्रीकानजी स्वामी एवं उनके आध्यात्मिक प्रवचन बहुत आकर्षणके केन्द्र रहे हैं। उनके आध्यात्मिक प्रवचनों से एक आध्यात्मिक क्रान्ति आगई। इस क्रान्तिका यह परिणाम हुआ कि जिन्होंने केवल बाहरी क्रियाकलापको ही धर्म मान रखा था उन्हें अपना आसन डगमगाता दिखा इसलिये उन्होंने अपनी पूरी ताकत लगाकर उनका विरोध करना प्रारभ किया।

उन्होंने इस विरोध को आगमकी सुरक्षा का नाम दिया। उन्होंने स्वामीजीके समयसार, मोक्षमार्ग प्रकाशक, प्रवचनसार, नियमसार आदिके कथनों को तोड़ मरोड़कर, विना प्रसग बताए इसरूपमें प्रस्तुत किया कि साधारण समाज यह समझे कि स्वामीजी आगम के विपरीत कथन करते हैं। इसलिये 'ऐसे तथाकथित आगमविरुद्ध कथनों' का विरोध करनेवाला "धर्म सरक्षक" की श्रेणीमें आ ही जावेगा।

ऐसे धर्म संरक्षकों की शास्त्री परिषद् ने श्रीमहावीरजीमें हुई प्रतिष्ठाके अवसर पर एक प्रस्ताव पास किया बताते हैं कि "श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मदिर सोनगढ़ से प्रकाशित साहित्य में दिगम्बर जैन सिद्धान्त घातक कथन प्रचुरमात्रामें पाया जाता है (जिनमें से २१ का नामांकन भी किया है यह बात अलग है कि उनमेंसे ५ कथनों का कोई स्रोत नहीं बताया) अतः उन प्ररूपणाओं को दिगम्बर जैन सिद्धांत की मान्यता न माना जावे और दिगम्बर जैन समाज एव पचायतियां ऐसी सिद्धांत विघातक प्ररूपणाओं से सावधान रहे।"

इस प्रस्तावक सम्बधमें भी समाचार पत्रों में यह प्रकाशित हुआ था कि यह प्रस्ताव वहां प्रस्तुत ही नहीं किया गया था। हाँ, कुछ व्यक्तियों

ने वहाँ बिना प्रेस का नाम दिए इस प्रस्तावको छपाकर वितरण किया था। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उस प्रतिष्ठामें गौमुखी देवियों आदि की प्रतिष्ठा की गई थी उसका शास्त्री परिषद् के किसी विद्वान् ने विरोध नहीं किया किन्तु उनकी दृष्टि तो सोनगढ के विरोध तक सीमित थी क्योंकि उनके बढते हुए प्रचारसे भट्टारकी युग समाप्त होने की आशका थी। इस ही प्रस्ताव को बड़े २ पोस्टरों के रूपमें छपाकर सर्वत्र प्रचारित किया गया है और उसके द्वारा सभी समाज के सगठनों को आह्वान किया है कि वे गांव २ में सोनगढ़ का विरोध करने के लिये अलग संगठन बनावें।

इस प्रस्ताव का अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं है। यह अनुभूत तथ्य है कि जिस सत्य का जितना अधिक बहिष्कार किया जाता है लोग उस सत्य की ओर उतने ही अधिक आकर्षित होते हैं। किंतु मैं देख रहा हूं कि कुछ व्यक्ति इस प्रस्ताव की आड़में स्थान २ पर सामाजिक एकता भग करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसका उदाहरण इंदौर एव सनावद के क्रिया कलाप सामने हैं। ऐसे क्रियाकलापों की आवृत्ति अन्यत्र न हो तथा जन साधारण वास्तविकता समझे इसलिये सोनगढ़ के उद्धृत २१ कथनों का पूर्ण विवेचन करना आवश्यक है।

इन २१ कथनों में निम्न कथनों का तो प्रस्तावमें आधार ही नहीं बताया गया है अतः उन पर विचार ही नहीं किया जा सकता—

१५ नियतिवाद

१७ कार्य सिद्धि में निमित्तकारण अकिंचित्कर है।

१८ व्यवहार चारित्र त्याज्य है।

१९ व्यवहार नय सर्वथा असत्यार्थ है।

२० केवलज्ञानावरणके क्षय से केवलज्ञान नहीं होता।

शेष १६ कथनों का विवेचन आगे किया जायगा। वस्तुतः प्रसंग बिना बताये, वाक्य को तोड़ मरोड़ कर ये कथन प्रस्तुत किए गये हैं इसलिये

इन कथनों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इनकी मूल भूमिका एव प्रसग, नयपद्धति पूर्णरूपसे समझी जावे।

निश्चयनय की पद्धति के कथन की व्यवहारनयसे परीक्षा करना वक्ता के प्रति अन्याय है एवं अपने तथा अपने श्रोताओं को धोखा देना है।

इन कथनों की प्रासगिक अपेक्षाओं को ध्यान में रखे बिना परीक्षा करना समीचीन नहीं होगा।

पाठक देखेंगे कि प्रस्तावमें उल्लिखित कथन अपने प्रसंग विशेषमें आगम सम्मत हैं उनके समर्थन में आगम के उद्धरण दिए गये हैं।

अतः यह मेरी समझमें नहीं आता कि शास्त्रि परिषद् के उपस्थित २५-३० विद्वानों ने इन कथनों को दिगम्बर जैन सिद्धान्त घातक कैसे मान लिया ? इसके निम्न कारण हो सकते हैं—

१. उन्होंने सोनगढ़ से प्रकाशित पूरा साहित्य नहीं पढा किन्तु कुछ व्यक्तियों के भ्रामक प्रचारके चक्कर में आ गए।

२. उन्होंने सोनगढ़ के इन कथनों का दिगम्बर आम्नायमें प्राप्त आगमसे मिलान नहीं किया (अन्यथा वे जान जाते कि ये कथन आगमानुकूल हैं।)

३. मुनिभक्त कुछ गृहस्थ विद्वान तो सभवतः वर्तमान के कुछ मुनियों के आदेशानुसार समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथ पढ़ते ही नहीं होंगे अतः वे उन महान् ग्रंथों के सिद्धांतों से सम्मत सोनगढ़ के कथनों को सिद्धांतघातक कहें तो आश्चर्य क्या ?

यह विवेचन उन व्यक्तियों के लिये है जो बिना किसी पूर्वाग्रह के सोनगढ से प्रकाशित साहित्य के लिये जिज्ञासाबुद्धि रखते हैं। साथ ही इस विवेचन के आधार पर विद्वद्गण पुनः विचार करें और देखें कि शास्त्रि परिषद् का उक्त प्रस्ताव साधार है या निराधार ?

इसी प्रसंग में यह भी बता देना समीचीन होगा कि शास्त्रीय मंतव्यों के अनुसार शुभोपयोग को हेय मानते हुए भी सोनगढ़वाले देवपूजा, दान, प्रतिष्ठा, तीर्थ, शास्त्रभक्ति आदि के कार्यों में सच्ची रुचि लेते हैं जिसका सही मूल्यांकन तो वहां जाने से ही हो सकता है या कभी २ सोनगढवाले यात्रा प्रसंगों में अन्यत्र आये वहां उनकी भक्ति आदि के कार्यक्रम देखनेवाले जानते हैं।

कभी २ विरोधी पक्षकी ओर से यह प्रचार किया जाता है कि अमुक व्यक्ति सोनगढ के प्रभावमें आकर व्रतादि से च्युत होगया। इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि यदि कोई अमृत का समीचीन उपयोग न कर सके तो अमृत का क्या दोष ?

अनेक व्यक्ति व्रतादि ग्रहण कर भ्रष्ट होते हैं तो क्या व्रतादि नहीं ग्रहण करना चाहिये ?

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि सोनगढ के साहित्य में पुण्यकी हेयता बताई है, दान पूजादि को बंधका कारण बताया है इसलिए लोग इन्हें करने से छोड़ देंगे। ऐसे भाई स्वामीजी के उन कथनों को क्यों भूल जाते हैं जिनकी प्रेरणा से (ऐसे कुछ प्रेरणास्पद कथन पुस्तिका के अंतमें दिये गये हैं) गुजरातमें २६ दिगम्बर जैन मंदिर बन गये एव १५ स्थानों पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें हुईं। एवं लाखों की संख्या में दिगम्बर जैन साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित हुईं एवं सैंकड़ों की संख्या में श्रावक तीर्थयात्रार्थ जाते हैं। सभी दिगम्बराचार्यों ने मोक्षमार्ग में पुण्य को हेय एवं दान पूजादि को बंधका कारण बताया है। और तो क्या सोनगढ़ के विरोधियों के इस युग के धर्म साम्राज्य दिवाकर (जो अर्हत् परमेष्ठी का एक नाम है) श्री शान्तिसागरजी ने अपने अंतिम संदेश में भी कहा था—

"दानसे, पूजासे, तीर्थयात्रासे पुण्यबंध होता है। हर धर्मकार्यसे पुण्य का बंध होता है किंतु कर्मकी निर्जरा का साधन आत्मचिन्तन है।"

किन्तु वे भाई ऐसा ही कथन करने वाले कानजी स्वामीका विरोध करने में अपना अहोभाग्य समझ रहे हैं। क्या वे प्रकारांतर से अपने मान्य आचार्योंका विरोध नहीं कर रहे हैं? कृपया गंभीरतापूर्वक विचार करें।

इस विवेचन का वीतराग भाव से मनन करने का अनुरोध करना आवश्यक समझता हूँ। इस विवेचन में कहीं भूलचूक हो तो वीतरागभाव से लेखक को सूचित कर दें।

कथन नं० १

शरीर से आत्माको भिन्न करने पर-प्राण हत्या करने पर हिंसा नहीं होती है, आत्मधर्म वर्ष १ अंक नं० ४, पृष्ठ २१, वर्ष-४ अंक २ पृ० १९ (जिस लेख को आज २० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।)

विवेचन—आत्मधर्मके उक्त अंक में ऐसा कथन नहीं मिलता किन्तु तत्संबंधी लेखका पूर्ण अंश उद्धृत करता हूँ जिससे पाठक वास्तविकता समझें।

अहिंसा का स्वरूप

'अहिंसा परमोधर्म' वाक्य का यह अर्थ है कि आत्मा शुद्ध ज्ञायक अखंड है, उसकी अन्तर श्रद्धा करके उसमें एकाग्र रहना, इसीका नाम अहिंसा है, और यही परम धर्म है। दूसरे को न तो कोई मार सकता है और न जिला सकता है, केवल वैसे भाव करे, दूसरे को मारने के भाव अशुभ पाप भाव है और दूसरे को जिलानेके भाव शुभ भाव-पुण्य है। किन्तु यह वास्तविक अहिंसा नहीं है। क्योंकि स्वयं दूसरे को न तो मार सकता है और न जिला सकता है, फिर यों मान लिया कि मैं दूसरे को मार या जिला सकता हूँ; इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने को परका कर्ता माना, बस, इसीमें स्वभाव की हिंसा है। लोग परदया पालनको अहिंसा कहते हैं, सचमुच में वह अहिंसा ही नहीं है। सच बात तो यह है

कि अधिकांश आदमी हिंसा अहिंसा की सच्ची व्याख्या ही नहीं जानते। उसकी सच्ची व्याख्या इस प्रकार है :—

लोग जड़ शरीर और चैतन्य आत्माको पृथक् कर देने को हिंसा कहते हैं। किन्तु हिंसा की यह व्याख्या सत्य नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से भिन्न ही हैं। उन्हे पृथक् करने की बात औपचारिक है। आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायक शरीर से अभेद है। यह पुण्य पाप की वृत्तिसे रहित चैतन्य ज्ञानमूर्ति है। इस स्वरूपको न मानकर पुण्य पाप को अपना मान लिया, उसने अपने चैतन्य आत्मा को उसके ज्ञायक शरीर से पृथक माना, यही स्वहिंसा है, अथवा अपने को भूलकर परमें जितनी सुख बुद्धि मानी उतनी स्वहिंसा ही है। कोई परकी हिंसा नहीं कर सकता, **मात्र मारने का पाप भाव कर सकता है।**

उपरोक्त आक्षेप में आत्मधर्म वर्ष ४ अंक नं० २ पृ० न० १८ का आधार भी बताया है यहां भी ऐसा कथन है ही नहीं किन्तु पृ० १२ में निम्न प्रकार है।

व्यवहार अभूतार्थ है इस बात का प्रकरण है—

निश्चय से तो ज्ञान ज्ञान में से ही आता है, देव-गुरु शास्त्र के आधार से ज्ञान नहीं आता, इस प्रकार निश्चय का वाक्य सुनकर यदि कोई श्रवण-मनन-पठन के शुभभावको छोड़ ही दे तो वह उल्टा अशुभभावमें लग जायगा। सत को समझने में पहले **सत्समागम—श्रवण, मनन इत्यादि शुभभावरूप व्यवहार आये विना नहीं रहता।** फिर भी यह शुभराग ज्ञान का कारण नहीं है। किन्तु यदि कोई शुष्कज्ञानी निश्चयाभासी प्रथम भूमिका में उस शुभभावमें युक्त न हो तो अभी वह वीतराग तो हुआ नहीं है, इसलिये अशुभ में युक्त होगा और नीच गतिमें परिभ्रमण करेगा। "यदि व्यवहार न बताया जाय तो परमार्थतः शरीरसे जीव भिन्न कहा गया है, इसलिये जैसे भस्मको मसल देने में हिंसा नहीं होती, उसी प्रकार

त्रस स्थावर जीवों को निःशंकतया मर्दन करने पर भी हिंसा का अभाव ही सिद्ध होगा, और ऐसा होने से बंधका भी अभाव होगा"

यदि व्यवहार से शरीर और जीवका कोई भी सम्बन्ध न हो, तो ऐसी अवस्था में राग द्वेष भी न हो, तो ऐसा विकल्प भी नहीं हो सकता कि 'प्रस्तुत जीव की हिंसा कर दी' किन्तु प्रस्तुत जीवको शरीर पर राग है और इसलिये शरीर के साथ उसका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धरूप व्यवहार है, तथा स्वय भी अभी वीतराग नहीं हुआ है अर्थात् अवस्था में राग द्वेष है, सो व्यवहार है, इसलिये प्रस्तुत जीवको मारने का विकल्प होता है। प्रस्तुत जीवको मारने का विकल्प उठता है सो यह तेरा व्यवहार है। पर विकल्प भी कब उठता है कि प्रस्तुत जीवको शरीर पर ममताभाव है अर्थात् उसका शरीर के साथ निमित्त नैमित्तिक भाव वर्तमान में है सो यह उसका व्यवहार है। उस व्यवहार को जाना, इसलिये प्रस्तुत जीवको मारने का भाव हुआ। निश्चय में हिंसा का विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि निश्चय से कोई जीव मरता नहीं है जीव और शरीर भिन्न भिन्न ही हैं, और जड़ को मारने में हिंसा नहीं होती, अर्थात् निश्चय में तो हिंसा का विकल्प तक नहीं होता। अब यदि व्यवहार ही न हो तो किसी को मारने का विकल्प ही न आये। मारने का विकल्प उतना ही व्यवहार है। अपने में और प्रस्तुत जीवमें-दोनों में व्यवहार है तभी विकल्प उठता है, यदि स्वय वीतराग होता तो मारने का विकल्प न उठता और यदि प्रस्तुत जीव वीतराग होता तो भी तुझे उसको मारने का विकल्प न उठता। कभी किसी को यह भाव नहीं उठता कि मैं सिद्ध को मार डालूं, इसका यह कारण है कि सिद्ध वीतराग है, उनके व्यवहारका अवलंबन शेष नहीं है, यही कारण है कि सिद्ध भगवान् के भी कभी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि मैं अमुक जीव को मारू। व्यवहार के अवलंबन के बिना विकल्प नहीं उठता। शरीर इत्यादि की क्रिया आत्मा कर सकता है इस मान्यता को लोग व्यवहार कहते हैं, परन्तु यह व्यवहार नहीं, वह मान्यता तो मिथ्यात्व है।

नोटः—अहिंसा और हिंसा का वर्णन किस सुन्दर ढग से किया है इस कथन को न मानकर आगे पीछे की संधि छोड़कर बीचमें से मात्र एक छोटा सा वाक्य पकड़ कर उल्टा अर्थ करनेसे आत्मधर्म के उपरोक्त आगमानुकूल लेख मिथ्या एकान्त नामको प्राप्त नहीं हो सकते।

इस प्रसंग में हिंसा अहिंसा की व्याख्या करने वाले आगम के निम्न प्रमाण पठनीय हैं—

आधार नं० १—सूत्रजी में 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणंहिंसा' कहा है।

आधार नं० २—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्यदेवने गाथा ४२-४३ में कहा है कि 'आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के हेतुसे ये सब हिंसा ही हैं। अनृत वचनादि भेद केवल शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरणरूप कहे हैं निश्चयसे रागादि भावोंका प्रगट न होना अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावोंकी उत्पत्ति होना हिंसा है ऐसा जिनागम जैनसिद्धान्त का सार है'।

आधार नं० ३—समयसार गाथा २३८ से २४६ टीका में कहा है कि 'चेतन-अचेतन के घातमात्र से हिंसा नहीं है किन्तु उपयोगमें रागादि करना ही हिंसा है' मात्र बाह्य हिंसा, हिंसा नहीं है।

आधार नं० ४—प्रवचनसार गाथा २१७ में कहा है कि बहिरंग हिंसा मात्रसे बंध नहीं होता 'मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥२१७॥ अर्थ—जीव मरे या जिये, अप्रयत आचार वाले के (प्रमादचर्या वाले के) हिंसा निश्चित् है, प्रयत के, समितिवान् के बाह्य हिंसा मात्र से बध नहीं है।

उक्त आधारों से सिद्ध होता है कि आत्मधर्म की अहिंसा हिंसा सम्बन्धी पूर्ण व्याख्या आगमानुकूल ही है।

कथन नं० २

"जीव रक्षा, दया भावना परमार्थ से जीव हिंसा है"

आधार आत्मधर्म वर्ष ४ अक १ पृष्ठ १२.

विवेचन—उपरोक्त वाक्य जीवदयारूप धर्म शीर्षक आत्मधर्म में लेख है जो पृ० ११ से १३ तक पेरा नं० ३४ से ४२ तक है उस लेखमें निम्नप्रकार से कथन आया है।

पेरा नं० ३४, ४—जीवदयारूप धर्म

लोग जीवदया के नाम से शुभरागमें धर्म मान रहे हैं परन्तु जीवदया का यथार्थ स्वरूप समझते नहीं। क्रोधादि कषाय के वश अपनी तथा पर जीवकी हिंसा का भाव न करना सो जीवदया है। सबसे बडा क्रोध मिथ्यात्व है और यही वास्तव में बडी जीव हिंसा है। मिथ्यात्वको छोड़े बिना कभी भी जीव हिंसा नहीं रुक सकती। स्वजीव की हिंसा न करना ही मुख्य जीवदया है और जब स्वयं क्रोधादिक के द्वारा स्वजीव की-अपने आत्माकी, हिंसा नहीं की तब क्रोध के अभाव के कारण परजीवके मारने का भाव भी नहीं आया, इसलिये परजीव की दया भी आ जाती है। परन्तु स्वजीव की दया कब हो सकती है? जो जीव पुण्य से धर्म मानता है वह जीव, विकारभावके द्वारा स्वभावकी हिंसा करता है। मेरा शुद्ध स्वरूप पुण्य-पाप रहित है, ऐसा जानने के बाद दया की शुभ भावना को वह छोड़कर जब स्वरूपमें सावधान हो गया और शुद्ध ज्ञानचेतना के अनुभव में लीन हुआ सो ही जीवदया धर्म है। अर्थात् इसमें भी चेतना का शुद्ध परिणाम ही धर्म सिद्ध हुआ। वास्तवमें पर जीवको न तो कोई मार सकता है। किसी जीवको दु ख नहीं देना चाहिये। इसमें स्वय भी अ तर्भूत है, इसलिये कषाय के भावके द्वारा स्वको भी दुखी न करना सो वास्तवमें दया है।

अशुभ परिणाम के समय स्वय तीव्र दुखी होता है और दया इत्यादि के शुभ परिणाम के समय भी जीवको आकुलता का ही अनुभव होता है, इसलिये वह दुखी है।

अतः अशुभ और शुभ दोनों भावों से जीव की रक्षा करना अर्थात् शुभाशुभ रहित मात्र ज्ञानस्वभावरूप दशा करना सो जीवदया है। जो जीव शुद्ध ज्ञानचेतना के द्वारा स्वरूपमें एकाग्र हुआ उस जीव के अशुभभाव-हिंसाके भाव होते ही नहीं अर्थात् वहाँ परजीवकी दया स्वयं पाली जाती है।

यदि परजीव की दया पालने के शुभरागमें धर्म हो तो सिद्धदशामें भी परजीवकी दया का राग होना चाहिये, परन्तु शुभराग धर्म नहीं है किन्तु अधर्म है, हिंसा है।

पेरा नं० ३५—प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा स्वभावको जानने पर श्रद्धा की अपेक्षा से अहिंसक भाव प्रगट होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्य-पाप का भाव होता है, किन्तु उसे अपना स्वभाव नहीं मानता। इसप्रकार मान्यतामें पुण्य-पाप से अपने स्वभावकी रक्षा किये रहता है इसलिये इसके यथार्थ जीवदया है। अज्ञानी जीव अपनेको क्षणिक पुण्य-पाप जितना ही मानकर त्रिकाल विकार रहित स्वभावका नाश करता है, और यही हिंसा है। और फिर "जीव दया" तो कही जाती है किन्तु "शरीर दया" नहीं कही जाती, क्योंकि शरीर जीव नहीं है। लोग शरीर की क्रिया से तुलना करते हैं सो मिथ्या है। जीव शरीरसे भिन्न चेतना-स्वरूप है, उसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमें स्थिर रखना और विकारमें नहीं जाने देना ही "जीव रक्षा" है। मैं परजीव की रक्षा करूं ऐसी दया की भावना भी परमार्थ से जीव हिंसा ही है। इसप्रकार पहले श्रद्धामें मानना चाहिये और ऐसी मान्यता होनेके बाद भी अस्थिरता के कारण शुभ विकल्प उठता है, किन्तु वह धर्म नहीं है।

नोट—देखिये यहा हिंसामें पाप नहीं ऐसा कहां आया है, स्व पर की दया के भाव में-पर जीव की दया भी पाली जाती यह बात स्पष्ट आई है।

शास्त्राधार—भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार बंधाधिकारमें जो अनेकान्त सिद्धांत कहा है वह पं० प्रवर श्री टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३३१ से ३३२, देहली से प्रकाशित में निम्न शब्दों में कहा है—

'बहुरि आश्रवतत्व विषै हिंसादि रूप पापास्रव है, तिनको हेय जाने है। अहिंसादिरूप पुण्यास्रव है, तिनको उपादेय माने है। सो ये तो **दोऊ ही कर्मबंधके कारण हैं, इन विषै उपादेयपनो माननो, सो ही मिथ्यादृष्टि है। सो ही समयसार बंधाधिकार विषै कहा है—**

आधार न० २-समयसार बंधाधिकार कलश १६६ में कहा है कि सर्व जीवों के जीवन मरण-सुख दु:ख अपने कर्म के निमित्त से होवे हैं—

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरण जीवित दुःख-सौख्यम्।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति॥

अर्थ-इस अज्ञानको प्राप्त करके जो पुरुष परसे परके मरण जीवन सुख, दु:खको देखते हैं अर्थात् मानते हैं, वे पुरुष-जो कि इसप्रकार अहंकाररससे कर्मोंको करनेके इच्छुक हैं अर्थात मैं इन कर्मों को करता हूं, ऐसे अहकार-रूपी रस से जो कर्म करने की-मारने-जिलाने की सुखी-दुखी करने की वांछा करने वाले हैं वे-नियमसे मिथ्यादृष्टि हैं, अपनी आत्मा का घात करने वाले हैं।

दया का लक्षण—

आधार ३-यत निजस्वभाव विकारभावेन न घातयति न हिनस्ति, निजस्वभाव पालयति तदेवः सैवः दया॥ ६॥

आत्म अवलोकन ग्रन्थ पृ० १८४

अर्थ— विकारमय परिणामों द्वारा अपने निज स्वभावका घात नहीं करना, अपने स्वभावका पालन करना ही दया है।

आधार न० ४—ज्ञानी धर्मात्माको भूमिकानुसार

यत्नाचाररूप समिति होती है किंतु अज्ञानी जीव उसको संवर-निर्जरारूप समिति मानता है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा छोड़ कर सच्ची श्रद्धा के लिये श्री मोक्षमार्ग प्र० पृ० ३३५ में कहा है कि–वह अज्ञानी जीव 'परजीवों की रक्षा के अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति को समिति मानै है। सो हिंसा के परिणामोंसे तो पाप ही है, अर रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे, तो पुण्यबंध का कारण कौन ठहरेगा। एषणा समिति में दोष टालै है। तहां रक्षा का प्रयोजन है नाहीं–मुनियों के किञ्चित् राग भये गमनादि क्रिया हो है, तहां तिन क्रियानि विषै अति आसक्तताके अभावतैं प्रमादरूप प्रवृत्ति न हो है। और जीवों को दुखी करि अपना गमनादि प्रयोजन न साधै है, तातैं स्वयमेव ही दया पलै है, ऐसे सांची समिति है"।

आधार नं० ५–प्रथम कथन के समर्थन में दिये गये शास्त्राधारमें पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय गाथा ४२–४४ के अर्थ में आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घातने के हेतु से ये सब हिंसा ही हैं, निश्चय से रागादि भावों का प्रगट न होना अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है ऐसा जिनागम–जैनसिद्धान्त का सार है। इसप्रकार द्वितीय कथन शास्त्रानुसार ही सिद्ध होता है।

कथन नं० ३—

"व्रत, तप, दया के शुभभाव आत्मा के विकार हैं, बंध हैं"

समयसार प्रवचन भाग १ पृ० २१५

विवेचन—समयसार गाथा ६ पर "अज्ञानी जीव किस कारण से परिभ्रमण करता है" उस विषय पर निम्न प्रकार से वर्णन है, किन्तु पाठक देखेंगे कि एक ही वाक्य में से कुछ शब्दों को छोड़कर कुछ शब्द आक्षेप-रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं ताकि पाठक भ्रम में पड़ जाय।

उक्त कथन दूसरी आवृत्ति समयसार प्रवचन भाग १ पृ० २१२ में निम्न प्रकार है—

सच्ची आत्मा की दृष्टि में विकार नहीं है, क्योंकि विकार क्षणिक अवस्था है, इसलिये वह पर्यायार्थिक नयसे है, पर पराश्रित है इसलिये व्यवहार है, जो व्यवहार है वह संयोगाधीन भाव है, वह छोड़ने योग्य है, जो यह नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

आत्मा ने अनन्त काल में यह बात कभी नहीं सुनी, तब फिर सच्चा मनन कहां से करेगा। व्रत–तप, दयादि के शुभ भाव हो अथवा चोरी हिंसा आदि के अशुभभाव हों सो वे दोनों विकार हैं, बन्धन हैं मात्र अशुभ से छूटने के लिये शुभभाव ठीक हैं, किंतु उनसे धर्म नहीं होता, इसप्रकार जब तक नहीं समझता तब तक जीव परके कर्तृत्व का अभिमान करके परिभ्रमण करता रहता है। जो अविकारी मुक्त स्वभावको अपना समझता है, उसके परवस्तु की तृष्णा कम हुए बिना नहीं रहती। अज्ञानी जितना कर सकता है उससे अनेक गुणा शुभभाव ज्ञानी की भूमिका में हो जाता है जब तक ज्ञानी के पूर्ण वीत-रागता प्रगट न हुई हो तब तक निम्न भूमिका में अशुभ से बचने के लिये उसके शुभभाव होता तो है, किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता।

रजकण देहादि की प्रवृत्ति और पुण्य-पाप आदि कोई मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसी प्रथम श्रद्धा होनेपर ही ज्ञानी के परमें आसक्तिका प्रेम दूर हो जाता है, फिर विवेक सहित अशुभराग घटाने के लिए दानादिके द्वारा यह तृष्णा घटाये बिना नहीं रहता, जिस भावसे बंध होता है उस भाव से धर्म नहीं होता"।

आधार नं० १—श्री प० टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३२ में निम्न प्रकार लिखा है, "तहां अन्य जीवों को जिलावने का वा सुखी करनेका अध्यवसाय होय सो पुण्य बंधका कारण है। तातैं हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बंधका कारण जानि हेय ही

मानना, अहिंसा विषैं रक्षा करनेकी बुद्धि होय, सो याका आयु अवशेष बिना जीवे नाहीं। अपनी प्रशस्त राग परिणति करि आप ही पुण्य बांधे है। ऐसे दोऊ हेय हैं। जहां वीतराग होय ज्ञाता दृष्टा प्रवर्ते तहां निर्बंध है। सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न होय तावत् प्रशस्तरागरूप प्रवर्ते, परन्तु श्रद्धान तो ऐसा राखे—

यह भी बंध का कारण है—हेय है। श्रद्धानविषै याकौ मोक्षमार्ग जाने मिथ्यादृष्टि ही है।

आधार नं० २—श्री राजमलजी कृत समयसार कलश टीका पुण्य-पाप अधिकार कलश न० ११० में कहा है "यहां कोई भ्रान्ति करेगा जो मिथ्यादृष्टि का यतिपना क्रियारूप है, सो बंधका कारण है, सम्यग्दृष्टि का है जो यतिपना शुभ क्रियारूप, सो मोक्षका कारण है। कारण कि अनुभवज्ञान तथा दया-व्रत तप, संयमरूप क्रिया, दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मका क्षय करते हैं। ऐसी प्रतीति कितने ही अज्ञानी जीव करते हैं वहाँ समाधान ऐसा—जितनी शुभाशुभ क्रिया बहिर अल्परूप विकल्प अथवा अन्तर अल्परूप अथवा द्रव्योंका विचाररूप अथवा शुद्ध स्वरूपका विचार, रागमिश्रित विचार, इत्यादि समस्त कर्मबंधका कारण है, ऐसी क्रियाका ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि का ऐसा भेद तो कुछ नहीं। ऐसी करतूति से ऐसा बंध है शुद्धस्वरूप परिणमन मात्रसे मोक्ष है। **यद्यपि एक ही कालमें सम्यग्दृष्टि जीवके शुद्धज्ञान भी है। क्रिया-रूप परिणाम भी है। तथापि क्रियारूप जो परिणाम उससे एकला बंध होता है, कर्मका क्षय एक अंशमात्र भी नहीं होता** ऐसा वस्तु का स्वरूप, सहारा, किसका।"

अतः उपरोक्त कथन जिनागम के अनुसार है।

कथन नं० ४

"व्रत, दान, दया आदि का प्ररूपण करने वाले ग्रंथ कुशास्त्र हैं"

छहढाला द्वितीय ढाल पद्य १३ की टीकाः—

विवेचन—उपरोक्त वाक्य जिसप्रकार से काट छांटकर प्रस्तुत किया गया है वैसा तो कहीं भी नहीं आया लेकिन छहढाला के द्वितीय ढालमें कुदेव कुधर्म, कुगुरु के लक्षणोंमें, गृहीत मिथ्याज्ञानके लक्षणमें निम्नप्रकारसे आया है, वहां पर सम्यग्ज्ञान अर्थात् सच्चे शास्त्रोंका विषय ही नहीं है वहां तो मात्र कुशास्त्र की बात है। और श्वेताम्बर शास्त्रोंमें व्रत दान, दयादि के शुभ भावों से संसार परित होना लिखा है, दिगम्बर शास्त्र तो दयादि के शुभभावों से पुण्यबंध होना मानते हैं संसारका अभाव होना नहीं मानते अतः उपरोक्त दृष्टि से निम्न कथन आया है।

गृहीत मिथ्यात्वका कथन ढाल २ के ९ पद्य से नीचे माफिक है—

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषे चिरदर्शन मोह एव।
अन्तर रागादिक धरें जेह, बाहर धन अंबरते सनेह ॥ ९ ॥
धारें कुलिंग लहि महतभाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव।
जो राग द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादियुत चिन्ह चीन ॥१०॥
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव।
रागादि भाव हिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरणखेत ॥ ११ ॥
जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहे अशर्म।
याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान ॥१२॥
एकान्तवाद — दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि-रचित श्रुतको अभ्यास सो है कुबोध बहु देन त्रास ॥१३॥
जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करण विविध विध देहदाह।
आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन ॥१४॥

पद्य १३ के उत्तरार्ध का अर्थ जिसमें आक्षेप के शब्द इसप्रकार आये हैं:—५ जगत का कोई कर्त्ता हर्ता तथा निर्माता है ऐसा वर्णन करे अथवा, ६—दया दान महाव्रतादि के शुभ भावसे संसार परित, अल्पमर्यादित होना बतलाये, तथा उपदेश देनेके शुभभाव से धर्म होता है आदि

जिनमें विपरीत कथन हो, वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होनेके कारण कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की भूल होती है, ऐसा समझना चाहिये।

नोट—उपरोक्त विषय को विशेष स्पष्ट करने के लिए छहढालाका नवीन संस्करण जो सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है उसमें नीचे माफिक स्पष्टीकरण और भी कर दिया है।

६—दया दान महाव्रतादि के शुभभाव जो कि पुण्याश्रव हैं उससे, तथा मुनि को आहार देनेके शुभभावसे संसार परित होना बतलाये, तथा उपदेश देनेके शुभभावसे धर्म होता है—इत्यादि श्वेताम्बरादि ग्रन्थोंमें विपरीत कथन है वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होनेके कारण कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है।

आधार न० १—मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ५ पृ० २३२ श्वेतांबर मत की क्या भूल है यह बताते हुए लिखते हैं कि—

बहुरि व्रतादिरूप शुभोपयोग ही तैं देवका बध माने, अर याहीको मोक्षमार्ग माने सो बधमार्ग मोक्षमार्गको एक किया सो यह मिथ्या है। बहुरि व्यवहार धर्म विषै अनेक विपरीत निरूपै है, निंदकको मारने में पाप नहीं ऐसा कहे हैं॥

आधार नं० २

मो० प्र० पृ० ३३६, ३३७ में अध्याय ७ दिगम्बर जैन मत अनुयायी मिथ्यादृष्टिका स्वरूप बताने वाले अधिकारमें व्रततपादिकको धर्मका कारण माननें का निम्न शब्दोंमें निषेध किया है—

हिंसादि सर्व सावद्य योग का त्याग को चारित्र मानै है। तहां महाव्रतादिरूप शुभयोगको उपादेयपनै करि ग्रहण मानै है। सो तत्त्वार्थसूत्रविषै आश्रव पदार्थ का निरूपण करते महाव्रत अणुव्रत भी आश्रवरूप कहे हैं। ये उपादेय कैसे होय। अर आश्रव तो बधका साधक है चारित्र मोक्षका

साधक है तातैं महाव्रतादिरूप आश्रय भावनिको चारित्रपनो सम्भवे नाहीं। सकल कषाय रहित जो उदासीन भाव ताहि का नाम चारित्र है।

बाह्य व्रतादिक हैं, सो तो शरीरादि परद्रव्य के आश्रय हैं। पर द्रव्यका आप कर्ता है नाहीं। तातैं तिस विषैं कर्तृत्वबुद्धि भी न करनी अर तहां ममत्व भी न करना बहुरि व्रतादिक विषै ग्रहण त्यागरूप अपना शुभोपयोग होय, सो अपने आश्रय है। ताका आप कर्ता है, तातैं तिसविषैं कर्तृत्वबुद्धि भी माननी। अर तहां ममत्व भी करना। बहुरि इस शुभोपयोग को बंधका ही कारण जानना। मोक्षका कारण न जानना। जातैं बंध अर मोक्षकै तौ प्रतिपक्षीपना है, तातैं एक ही भाव पुण्यबंधको भी कारण होय, और मोक्षको भी कारण होय ऐसा मानना भ्रम है।

उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है। वस्तु विचारतैं शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है जातैं बंधका कारण सोई मोक्षका घातक है ऐसा श्रद्धान करना। शुद्धोपयोग ही को उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग अशुभोपयोग को हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना। जहा शुभोपयोग न होय सके, तहां अशुभोपयोग को छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्तना।

कोई ऐसे मानै कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग को कारण है सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसे ही कार्य—कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरे अथवा द्रव्यलिंगी के शुभोपयोग तो उत्कृष्ट हो है शुद्धोपयोग होता ही नाहीं। तातैं परमार्थतैं इनके व्रतादिक शुभोपयोग को और शुद्धभावको कारण-कार्यपना है नाहीं।

अतः उपरोक्त कथन से सिद्धात का घात नहीं अपितु सिद्धांतका समर्थन ही होता है।

कथन नं० ५

ज्ञानियोंने पुण्यको विष्टा समझकर छोड़ दिया है, अज्ञानी उस विष्टा को खा रहा है। समयसार प्रवचन भाग १ पृ०—१२५

विवेचन—यह विषय समयसार गाथा ४ के प्रवचनमें निम्नप्रकार से आया है।

मैंने पुण्य किया है इसलिये भोगना चाहिये, पुण्य का फल मीठा लगता है ऐसा मानता है यह इस विशाल गृहरूपी गुफामें ऐसा पड़ा रहता है जैसे विशाल पर्वतों की गुफाओं में जीव जन्तु पडे रहते हैं अतः आत्माकी प्रतीति के बिना वे दोनों समान हैं।

इतना करो तो पुण्य होगा फिर अच्छा सयोग मिलेगा, देवभवनमें ऐसे सुख मिलेंगे, ऐसा सुनकर जीव पुण्यको धर्म मानता है किन्तु पुण्यका फल तो धूल है, उससे आत्माको कलंक लगता है। मनुष्य अनाज खाता है उसकी विष्टा भुड़-शूकर नामक प्राणी खाता है, ज्ञानीने पुण्य को—जगत की धूल को विष्टा समझकर त्याग किया है। (यहां पुण्य के फलको ही धूल तथा विष्टा कहा है, पुण्यभावको नहीं) उधर अज्ञानी जन पुण्यको उमंग से अच्छा मानकर आदर करता है, इसप्रकार इस अपेक्षा से ज्ञानियोंके द्वारा छोड़ी गई, पुण्यरूपी विष्टा जगतमें अज्ञानी जीव खाते हैं। ज्ञानी जनों ने पुण्य पाप रहित आत्माकी सम्यक् श्रद्धा ज्ञान आचरणसे मोक्ष प्राप्त किया है।

समयसार प्रवचन भा० १ आवृत्ति २ पृ० १२३–२४

नोट—यहां पुण्य भाव-शुभभावको विष्टा नहीं कहा है, किन्तु पुण्यके फलरूप जो नोकर्म पुद्गल द्रव्य बाह्य सामग्री है, उस भोग उपभोगरूप बाह्य सामग्री से ममत्व छुडाने के लिए सब ज्ञानी लोग उस पुण्यरूपबाह्य सामग्रीको विष्टा समान गिनते हैं यह कहा है।

आधार १-श्री बनारसीदासजी कृत समयसार नाटक, बंध अधिकार दोहा नं॰ १८,

उत्तम पुरुष का स्वभाव, सवैया ३१ सा—

कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेश पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुद्गल छवि छारसी॥
जालसौ जग विलास भालसौ भुवन वास,
कालसौ कुटुम्ब काज लोक लाज लारसी।
सीठसौ सुजस जानै बीठसौ बखत मानै
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी॥ १६॥

उसका श्री राजचन्द्रजी द्वारा अर्थ.—जो कचन को कीच के समान जानता है, राजगद्दी को नीचपद के समान, किसीसे स्नेह करना मरण के समान, बड़प्पन को घर पोतनेके गोवर-मिट्टीके समान, कीमियादि योगको जहर समान, सिद्धि आदि ऐश्वर्यको असाता के समान, जगतमें पूज्यता होने आदि की हौंश (रुचि) को अनर्थ के समान, पुद्गल की छवि ऐसी यह औदारिक आदि शरीर को राख जैसा, जगत के भोग विलास को घबराहटरूप झझट जालके समान, गृहवासको भालेके समान, कुटुम्ब कार्यको मृत्युवत्, लोगोंमें प्रतिष्ठा बढानेकी इच्छाको मुखमें से टपकने वाली लार के समान, कीर्ति की इच्छाको नाकके मैलवत् और पुण्योदयको जो विष्टा के समान जानता है, ऐसी जिनकी रीति होती है उन्हींको, बनारसीदास वंदना करते हैं।

आधार २—चक्रवर्ति की संपदा, इन्द्र सारिखे भोग।
काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

आधार—३—पुण्यभाव—शुभभाव भी आस्रव है इसलिये आस्रव को आचार्योंने अशुचि-मैल कहा है।-समयसार आश्रव अधिकार।

आधारः—

(१) समयसार गा० १ जयसेनाचार्य टीकामें 'अमल' का अर्थ द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्म मलरहित ऐसा किया है।

(२) परम अध्यात्म तरगिणी मोक्ष अधिकार कलश नं० ३ टीकामें 'शुद्ध' का अर्थ द्रव्य भाव जो कर्म मल मुक्त, ऐसा किया है।

(३) चतुर्विंशति जिनस्तुतिमें 'विहुयरय मला' पाठ है।

उसका अर्थ है-हे भगवन्! आपने विशेषरूपसे धोया है, नष्ट किया है, रय—ज्ञानावरणादि रज द्रव्यकर्म और मल—शुभाशुभ रागरूप भाव कर्म। परमात्म प्रकाशमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें द्रव्य-भाव कर्मको "मल" बहुतवार कहा है।

(४) समयसार गा० ७२ अशुचिपना, विपरीतता, ये आश्रवोंके जानके। अर दुःख कारण जानके इनसे निवर्तन जीव करे॥७२॥

टीका—जलमें काई है सो मल या मैल है, उस सेवाल-मलकी भाँति आश्रव मलरूप या मैलरूप अनुभवमें आते हैं इसलिये वे अशुचि हैं—अपवित्र हैं।

(५) समयसार गा० ३०६ प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकारका विषकुम्भ है॥ ३०६॥

नोट—जहां भावास्रवको ही आचार्य अशुचि, मल आदि रूपसे संबोधन करते हैं तो उसके फलरूप पुण्य सामग्री को ज्ञानी जन विष्टा गिने तो क्या दोष?

ज्ञानीको भूमिकानुसार, व्रत, दया दान पूजादिक के शुभभाव होते हैं अवश्य, किन्तु वे श्रद्धामें उन्हें हेय समझते हैं, आश्रवतत्त्व समझते हैं। फिर भी भूमिकानुसार शुभ व्यवहार निमित्तरूपसे इस ही प्रकारके आते हैं, उनका ज्ञान करानेके लिए और अशुभ पापसे बचनेके लिए उसे असद्भूत व्यवहारनयसे व्यवहारधर्म कहा है।

अतः उपरोक्त कथन नं० ५ यथार्थ है।

कथन नं० ६—

दान पूजादि शुभभावोंसे धर्म मानना त्रिकाल मिथ्यात्व है

(समयसार प्रवचन भा० २ पृ० ८)

विवेचन—उपरोक्त विषय समयसार गा० १३ के प्रवचनमें निम्नप्रकारसे आया है जिसको प्रस्तावमें तोड़ मरोड़कर विपरीत रूपमें उपस्थित किया गया है।

"जिसने ऐसे नवतत्त्वोंको नहीं जाना उनकी यहां बात नहीं है। वीतरागदेवके शास्त्रों से या सत्समागमसे जिसने सच्चे नव तत्त्वोंको जान लिया तथापि यदि वह नवतत्त्वों के विकल्पोंमें ही लगा रहे तो उसका संसार बना रहेगा। नव प्रकार में से शुद्धनयके द्वारा एकरूप ज्ञायक हूं, इसप्रकार एक परमार्थ स्वभाव को ही स्वीकार करना सम्यक्त्व है। **दान पूजादि इत्यादि शुभ भाव है और हिंसा असत्य आदि अशुभभाव हैं। उन शुभ अशुभ भावोंके करनेसे धर्म होता है यह मानना सो त्रिकाल मिथ्यात्व है, इससे पुण्यको शुभभावको छोड़कर पापमें जाने को नहीं कहा है।** विषय कषाय देहादिमें आसक्ति, रुपया पैसा और रागकी प्रवृत्तिरूप व्यवसाय इत्यादि समस्त भावोंमें मात्र पापरूप अशुभभाव है और दानादिमें तृष्णा की कमी अथवा कषाय की मंदता इत्यादि हो तो वह शुभभाव पुण्य है, इसप्रकार पुण्यपापको व्यवहारसे

भिन्न माने किन्तु दोनोंको आश्रव मानकर उससे धर्म न माने। इसप्रकार नव तत्वोंको भलीभाँति जाने तो वह शुभभाव है।"

आधार १—समयसारजी कलश टीका श्री राजमलजी कृत पुण्य पाप अधिकार कलश न० ४ सीरियल नं० १०३ अर्थ—जिस कारण सर्वज्ञ वीतराग जितनी शुभरूप व्रत, संयम, तप, शील, उपवास इत्यादि क्रिया अथवा विषय कषाय असयम इत्यादि क्रिया उसको एकसी दृष्टिकर बंध का कारण कहते हैं।

भावार्थ इसप्रकार है—जैसे जीवको अशुभक्रिया करते हुए बंध होता है वैसे ही शुभक्रिया करते हुए जीवको बंध होता है, बधनमें तो विशेष (भेद) कुछ नहीं। इस कारण शुभरूप अथवा अशुभरूप, कोई मिथ्यादृष्टि जीव शुभक्रिया को मोक्षमार्ग जानकर पक्ष करता है सो निषेध किया, ऐसा भाव स्थापित किया कि मोक्षमार्ग कोई कर्म (क्रिया) नहीं, निश्चयसे शुद्ध स्वरूप अनुभव मोक्षमार्ग, अनादि परम्परा ऐसा उपदेश है ॥१॥

श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला समयसार गा० २०० कलश न० १३७ के भावार्थ में प० जयचन्द्रजी ने कहा है कि यहां कोई पूछे कि व्रत समिति तो शुभकार्य है उनको पालने पर भी पापी क्यों कहा। उसका समाधान— सिद्धान्तमें पाप मिथ्यात्वको ही कहा है जहांतक मिथ्यात्व रहता है वहांतक शुभ अशुभ सभी क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ कर पाप ही कहा है और व्यवहार नयकी प्रधानतामें व्यवहारी जीवोंको अशुभ छुड़ाके शुभमें लगानेको किसी तरह पुण्य भी कहा है। स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है।

आधार नं०—२ मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृ० ३७६ में भी कहा है कि "बहुरि इस शुभोपयोग को बंधका ही कारण जानना, मोक्षका कारण न जानना। जातैं बंध और मोक्ष के तो प्रतिपक्षपना है तातैं एक

ही भाव पुण्य बंधको भी कारण होय अर मोक्षको भी कारण होय ऐसा माननां भ्रम है। तातैं व्रत अव्रत दो विकल्प रहित जहां परद्रव्य के ग्रहण त्यागका कुछ प्रयोजन नाहीं, ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग सोई मोक्षमार्ग है।"

अतः कथन नं० ६ निर्दोष है।

कथन नं० ७—

जैन गजट में ता० २० मई १९६५ में कथन नं० ७ में "जिनवाणी परस्त्री समान है, मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० ८ ऐसा लिखा है किंतु दूसरे नये पोस्टर में "जिनवाणी पर है और परस्त्री भी पर है (आधार मोक्षमार्ग प्र० किरण पृ० ९०) ऐसा लिखा है यह परिवर्तन कैसे किया समझ में नहीं आता।

विवेचन—मोक्षमार्ग प्र० किरण भाग १ तथा भाग २ के उपरोक्त किसी भी पृष्ठ पर कहीं भी ऐसा कथन नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण भाग २ आवृत्ति २ पृ० ६४ में निम्न प्रकार कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ के विवेचनमें मिलता है।

यहां लिखा है कि "इसप्रकार चारों अनुयोग कार्य कारी हैं"

प्रश्न—पद्मनन्दी पचविंशतिका में ऐसा कहा है कि जो आत्मस्वरूपतैं निकसि बाह्य शास्त्रनिविषैं बुद्धि विचरै है सो वह बुद्धि व्यभिचारिणी है।

उत्तर—पद्मनन्दी भगवान् ऐसा कहते हैं कि आत्मासे च्युत होकर जिसकी बुद्धि शास्त्रमें जाती है वह व्यभिचारिणी है, यह तो सत्य है, परद्रव्यका ज्ञान करना यह रागका कारण नहीं है किन्तु परद्रव्यमें प्रेम हुआ है उसे व्यभिचारिणी कहा है। ज्ञानीको भी परमें बुद्धि जाने से जितना राग होता है उतना दुखदाई है, इसलिये उस बुद्धिको व्यभिचारिणी कहा है, इस अपेक्षासे यह बात की है। जिसे भगवान् आत्माका निर्णय हुआ

है यह परद्रव्य के ज्ञानका प्रेम करे तो उसे व्यभिचार कहा है, क्योंकि वह पुण्य राग है। स्त्री ब्रह्मचारिणी रहे तो ठीक है किन्तु ब्रह्मचर्य पालन न कर सके और अपने योग्य पुरुष से प्यार करना छोड़ चांडालादिका सेवन करे तो वह महा निन्दनीय होती है। स्त्री शीलका पालन करे तो यह पुण्य-बन्ध है। यह तो दृष्टान्त है :—उसी तरह बुद्धि आत्मामें रहे तो ठीक है किन्तु आत्मा में स्थिर न रह सके और शास्त्राभ्यास का प्रशस्त राग छोड़कर अशुभभाव करे तो वह महा निंदनीय है। शास्त्राभ्यास को छोड़कर सांसारिक कार्योंमे लगा जाय तो यह पाप है। भगवान् आत्मा ज्ञानमें रमण करे तो अच्छा है, और आत्मामें रमण न कर सके तो शुभभावमें रहना अच्छा है, किन्तु अशुभभाव तो करने योग्य नहीं है यहाँ जिसे आत्मदृष्टि हुई है उस अपेक्षासे शुभभाव ठीक है, ऐसा व्यवहार से कहा है।

आधार १—श्री पद्मनन्दी पचविंशतिका अ० १० गा० ३८ में लिखा है, * जो बुद्धिरूपी स्त्री बाह्य शास्त्ररूपी वनमें घूमनेवाली है बहुत विकल्पों को धारण करती है तथा चैतन्यरूपी कुलीन घरसे निकल चुकी है वह पतिव्रता के समान समीचीन नहीं है किन्तु दुराचारिणी स्त्री के समान है॥ ३६ ॥

आधार— २ मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ में पृ० २१५ में श्री टोडरमलजी ने कहा है कि बहुरि जो आत्मस्वरूपसे निकसि बाह्य शास्त्रनि विषे बुद्धि विचरे है सो बुद्धि व्यभिचारिणी है ताका—उत्तर—यह सत्य कहा है बुद्धि तो आत्मा की है ताको छोड़ि परद्रव्य शास्त्रनि विषैं अनुरागिणी भई ताको व्यभिचारिणी ही कहिये। अत. कथन न० ७ शास्त्र सम्मत है।

---

* बाह्य शास्त्र गहने विहारिणी, या मतिर्बहु विकल्प धारिणी।
चित्स्वरूप कुलसद्म निर्गता सासतीन सदृशी कुयोषिता ॥ ३८ ॥

कथन नं० ८—

हिंसा करने के समय कसाई को अल्प पुण्य होता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण अ० ३ पृ० १२२

विवेचन—यहाँ ऐसा कथन नहीं लिखा गया है, सम्पूर्ण विवेचनको सूक्ष्मतासे पढ़कर निर्णय करना चाहिये।

पुण्य–पाप अकेले नहीं होते, धर्म अकेला होता है चाहे जैसा तीव्रसे तीव्र अशुभ परिणाम करे तथापि उस समय जो पाप बन्ध होता है उसी के साथ अमुक पुण्य बन्ध भी (अल्प स्थिति बन्ध वाला) होता ही है। उसीप्रकार चाहे जैसा शुभ परिणाम करे तथापि उस समय जो पुण्यबन्ध होता है, उसीके साथ अमुक पाप-बन्ध (अल्प स्थिति बन्धवाला) होता ही है, (घाति कर्म सब पाप ही है अर्थात् उनमें भेद नहीं है) पुण्य पाप रहित मात्र शुभभाव अकेला हो सकता है, किन्तु अकेला पुण्य या अकेला पाप किसी जीवको नहीं हो सकता पुण्य पाप (गौण मुख्य) दोनों ही होते हैं, यदि मात्र पुण्य ही हो जाय तो ससार ही नहीं हो सकता। और मात्र पाप ही हो जाय तो चैतन्यका ही सर्वथा लोप हो जाय अर्थात् आत्मा का ही विनाश हो जाये।

निगोद के जीव को भी अमुक मंदकषाय तो होती ही है। उसके जो चैतन्यका विकास है वह मदकषाय का फल है। यदि कषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त पाप ही हो) तो चैतन्य नहीं रह सकता, और वर्तमानमें चैतन्यका जितना विकास है वह बन्धका कारण नहीं होता। हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प पुण्यबन्ध होता है। हिंसाभाव पुण्यबन्धका कारण नहीं है, किन्तु उसी समय चैतन्य का अस्तित्व है, ज्ञानका अंश उस समय भी रहता है, उससे सर्वथा पापमें युक्तता नहीं होती।

शुद्धतामें द्विरूपता नहीं है, किन्तु एक ही प्रकार है, और अशुद्धतामें शुभ अशुभ ऐसी द्विरूपता होती है, आत्मा का शुद्धतारूप धर्म पुण्य-पापके बिना-अकेला रह सकता है।

नोट—उपरोक्त कथन में हिंसा के भावसे पुण्य बन्ध की बात कहां आई। परन्तु यह स्पष्ट लिखा है कि "हिंसाके भाव पुण्य बन्ध का कारण नहीं है।"

प्रश्न है कि क्या हिंसा के समय पुण्य कर्म अल्प अल्प भी बँधते हैं?

उत्तर—हाँ अल्प अल्प स्थिति अनुभाग सहित अघाति कर्म बँधते हैं।

शास्त्राधार नं० १—

श्री महावीरजी में छपी जैन सिद्धान्त प्रवेशिका पंडित गोपालदासजी बरैया कृत, पृ ११० अध्याय ३-प्रश्न न. ४५१ जिस समय जीवके शुभयोग होता है उस समय पाप प्रकृतियों का आश्रव होता है या नहीं। उत्तर—होता है।

प्रश्न—४५२ यदि होता है, तो शुभयोग पापास्रवका भी कारण ठहरा।

उत्तर—नहीं ठहरा क्योंकि जिस समय जीवमें शुभयोग होता है, उस समय पुण्य प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग अधिक पड़ता है, और पाप प्रकृतियों में कम पड़ता है, और इसही प्रकार जब अशुभयोग होता है, तब पाप प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ता है, और पुण्य प्रकृतियों में कम। सूत्रजी के अ. ६ में ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के आश्रव के कारण जो तत्प्रदोषादि कहे हैं, उसका अभिप्राय है कि उन भावोंसे उन उन प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ते हैं। अन्यथा जो ज्ञानावरणादिक पाप-प्रकृतियोंका आस्रव दशवें गुणस्थान तक सि० में कहा है उससे विरोध आवेगा।

आधार नं० २—

गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. १६३ में भी यही बात है।

(रायचन्द ग्रन्थमाला प्रथमावृत्ति पृ ६६)

शुभ प्रकृतिनां विशेद्या तीव्र अशुभानां संक्लेशेन।
विपरीतेन जघन्य अनुभाग-सर्व प्रकृतीनाम् ॥ १६३ ॥

अर्थ—साता वेदनीयादि शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंका अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामों से उत्कृष्ट होता है। असाता वेदनीयादि प्रकृतियोंका अनुभाग बन्ध क्लेशरूप परिणामों से उत्कृष्ट होता है और विपरीत परिणामोंसे (ऊपर कहे गये से उलटा करने पर) जघन्य अनुभाग बन्ध होता है; अर्थात् **शुभ प्रकृतियों का संक्लेश (तीव्र कषायरूप) परिणामों से ज० अनुभाग बन्ध और अशुभ प्रकृतियों का विशुद्ध (मदकषाय-रूप) परिणामों से जघन्य अनुभाग बन्ध होता है,** इसप्रकार सब प्रकृतियोंका अनुभाग बन्ध समझना।। १६३ ॥

आधार (३)—मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० २ पृ० ४०, ४१ : देहलीमें भी निम्नप्रकार है—

"तहां घातिकर्मनिकी सब प्रकृतिनिविषैं वा अघाति कर्मनिकी पाप प्रकृतिनि विषैं तो अल्पकषाय होतैं थोडा अनुभाग बँधै है। बहुत कषाय होतैं घना अनुभाग बधै है। बहुरि पुण्य प्रकृतिनिविषैं अल्प कषाय होतैं घना अनुभाग बँधै है। **बहुत कषाय होतैं थोरा अनुभाग बंधै है।** ऐसैं कषायनि करि कर्म प्रकृतिनिके स्थिति अनुभाग का विशेष भया तातैं कषायनि करि स्थिति बध अनुभाग बन्ध का होना जानना। अत कथन न० ८ भी शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० ९—

"उपदेश मुनिका लक्षण नहीं है यह तो जड़ की क्रिया है"

: मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० १७८ :

विवेचन—यहाँ इसप्रकारसे नहीं लिखा है, किन्तु निम्नप्रकार है—आवृत्ति-दूसरी पृ० १८०, १८१ पुनश्च, उपवास अथवा वृतिपरिसंख्यानादि नियमसे मुनिकी परीक्षा करे तो यह भी यथार्थ नहीं है। जीवने अनेकों बार ऐसे उपवासादि किये हैं। शीत-ताप सहन करना यह मुनिपना नहीं है। अन्तरका (शुद्धात्म तत्वका) अनुभव मुनिपना है, उसकी परीक्षा अज्ञानी नहीं करता। कोई मुनि तीव्र क्रोधादि करे तो वह तो व्यवहाराभासमें भी नहीं आता, किन्तु कोई मुनि बाह्य क्षमाभाव रखता हो और उसके द्वारा परीक्षा करे तो वह भी सच्ची परीक्षा नहीं है। **दूसरों को उपदेश देना मुनिका लक्षण नहीं है, उपदेश तो जड़की क्रिया है,** आत्मा उसे कर नहीं सकता। **ऐसे बाह्य लक्षणों से मुनिकी परीक्षा करता है वह यथार्थ नहीं है।** ऐसे गुण तो परमहंस आदिमें भी होते हैं। दया पाले उपवास आदि करे—यह लक्षण तो मिथ्यादृष्टि में भी होते हैं, ऐसे पुण्य परिणाम तो जैन मिथ्यादृष्टि मुनियों तथा अन्य मतियोंमें भी दिखाई देते हैं, इसलिये उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। अतिव्याप्ति अव्याप्ति और असम्भव दोष रहित परीक्षा न करे वह जीव मिथ्यादृष्टि है। **शुभभावों के द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती।** + + उपवासमें रागकी मन्दता होना जीवाश्रित है और खाद्य पदार्थोंका न आना जड़ाश्रित है क्रोध के परिणामों का होना यह जीवाश्रित है और आंख लाल हो जाना जड़ाश्रित है। उपदेश वाक्य जड़के आश्रित है और उपदेश देनेका भाव जीवके आश्रित है, इसप्रकार जिसे दोनोंके भेदज्ञानकी खबर नहीं है वह सच्ची परीक्षा नहीं कर सकता। चैतन्य और जड़ असमान जातीय पर्याय है। जड़की पर्याय मुझसे होती है—ऐसा अज्ञानी मानता है। यह असमानजाति मुनिपर्यायमें एकत्वबुद्धि होनेसे मिथ्यादृष्टि ही रखता है।

मुनिका सच्चा लक्षण—

अब मुनिकी सच्ची परीक्षा करते हैं। मुनिके व्यवहार होता अवश्य है, किन्तु उससे उनकी सच्ची परीक्षा नहीं होती। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनिका सच्चा लक्षण है।

शास्त्राधार नं० १—

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सर्वज्ञ भगवान् की साक्षी देकर कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्ता हो सकता है ऐसा माननेवाले द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं सर्वज्ञके मतसे बाह्य हैं, देखो समयसार गा. ८६, ८७ तथा उनकी टीका तथा समयसार गाथा ३२१ से ३२३।

आधार नं० २—

गुरु का स्वरूप समझनेमें अज्ञानीको भूल किसप्रकार होती है इसका मोक्षमार्ग प्रकाशकके पृ० ३२७ में निम्नप्रकार वर्णन किया है कि—

"कोई जीव परीक्षा भी करे है तहां मुनि दया पालै है, शील पालै है, धनादि नाहीं राखे है, उपवासादि तप करे है, क्षुधादि परिषह सहे है, किसीसे क्रोधादि नाहीं करे, उपदेश देय औरनिको धर्म विषै लगावै है, इत्यादि गुण विचारि तिनविषै भक्तिभाव करै है। सो ऐसे गुण तो परमहंसादि अन्यमति में है, तिन विषैं या जैनी मिथ्यादृष्टिनि विषै भी पाइये है। तातैं इनि विषैं अतिव्याप्तिपनों है। इनि करि सांची परीक्षा होय नाहीं। बहुरि जिन गुणों को विचारैं है तिन विषैं केई जीवाश्रित है, केई पुद्गलाश्रित है, तिनका विशेष न जानना, असमानजातीय मुनिपर्यायविषैं एकत्वबुद्धितैं मिथ्यादृष्टि ही रहै है। बहुरि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग सोई मुनिनका सांचा लक्षण है।"

आधार नं० ३—

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३३१ में भी कहा है कि "जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार विना पर्यायबुद्धिकरि जानपना विषैं वा वर्णादिविषैं अहंबुद्धि धारै है, तैसैं यहु भी आत्माश्रित ज्ञानादिविषैं वा शरीराश्रित उपदेश उपवासादि क्रियानिविषैं आपो मानैं है।"

नोट—देखो जिसप्रकार शरीराश्रित क्रिया जड़ है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है, इसप्रकार वचनरूप उपदेश भी आत्मा की क्रिया नहीं है। उसको मुनिका लक्षण माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, ऐसा सिद्ध होता है।

अतः कथन नं० ९ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० १०—

"तीर्थंकरकी वाणीसे किसी को लाभ नहीं होता"

: मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० २१२ :

विवेचन—यह विषय मोक्षमार्ग प्रकाशक के अ० ७ बन्धतत्त्वके श्रद्धानमें अयथार्थता के विषयमें आया है। तीर्थंकर की वाणी से लाभ होता है यह कथन व्यवहारनय का निमित्त का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है इसको वास्तविक स्वरूप मानना दो द्रव्यकी एकताबुद्धि है। यह प्रसंग मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० २०८ से २१२ में वर्णित है :—

"तीर्थंकर की वाणीसे किसी को लाभ नहीं होता (क्योंकि) जिस परिणामसे तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध हुआ वह परिणाम जीवको अपने लिये हेय है और प्रकृति (कर्म प्रकृति) अहितकर है, तो फिर दूसरोंको हितकर कैसे हो सकती है। अज्ञानी जीव तीर्थंकर पुण्य प्रकृतिसे लाभ मानता है और उससे अनेक जीव तरते हैं ऐसा मानता है वह भूल है। (वास्तवमें क्या है) जीव स्वयं अपने कारण तरता है तब तीर्थंकर की वाणी को निमित्त कहा जाता है—ऐसा वह (अज्ञानी) नहीं समझता।

इसप्रकार शुभाशुभ भावों द्वारा कर्मबन्ध होता है, उसे भला बुरा जानना ही मिथ्या श्रद्धान है और ऐसे श्रद्धानसे बन्धतत्त्व का भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।"

उपरोक्त कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० २१२ में है।

इस विषयमें श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला—श्री पूज्यपादाचार्य कृत इष्टोपदेश गा० ३४-३५ पृ० ४१-४३ में कहा है कि :—

दोहा—आपहिं निजहित चाहता, आपहि ज्ञाता होय।
आपहिं निजहित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय ॥३४॥

यहाँपर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरों की क्यों सेवा करनी होगी ? बस जब आपसमें खुदका खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुओ को नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा मानने से अप् सिद्धान्त हो जायेगा। ऐसे बोलनेवाले शिष्यके प्रति आचार्य जवाब देते हैं—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

दोहा—मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्तमात्र पर जान जिमि गति धर्म तें होय ॥३५॥

समयसार प्रवचन भाग १ आवृत्ति २ पृ० १३८ में गाथा ४ के वर्णनमें श्री कानजी स्वामी ने कहा है कि 'तीर्थंकर भगवान् की वाणी से लाभ क्यों नहीं हुआ कि त्रिकाल साक्षीरूप भगवान आत्माको नहीं जाना, इसलिये सर्वज्ञ भगवान् के पास अनतबार जाने पर भी पुण्य पाप मेरे हैं, मैं परका आश्रय वाला हूँ, ऐसे पराश्रित भावकी पकड होने से केवलज्ञानी भगवान् के पास से भी कोरा का कोरा यों ही लौट आया।"

आत्मधर्म वर्ष १६ अक न० ६ पत्र ३१६-१७ में समयसार गा० ४ के प्रवचनमें भी तीर्थंकर की वाणी से लाभ क्यों नहीं हुआ उसका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है:—

प्रश्न—प्रभो! अनंतबार समवसरण में जाकर श्रवण किया है, फिर भी आप ऐसा क्यों कहते हैं कि श्रवण नहीं किया?

उत्तर—समवसरणमें जाकर श्रवण किया और सतों से भी सुना, किन्तु उसे वास्तवमें श्रवण नहीं कहते, क्योंकि सर्वज्ञों और संतों का जैसा आशय था वैसा लक्ष्यमें नहीं लिया, इसलिये श्रवण नहीं किया है यह कहा है।

अनादिकालसे जो विपरीत रुचि थी वैसी ही रुचिका मथन दिव्यध्वनि सुनते समय भी होता रहा, इसलिये दिव्यध्वनि श्रवण करने का कोई फल नहीं मिला। उपादानमें कुछ अन्तर तो नहीं पड़ा इसलिये वास्तवमें उसने शुद्धात्माकी बात सुनी ही नहीं उसने भगवान् की बात का श्रवण ही नहीं किया है।

भले ही समवसरणमें जाये और दिव्यध्वनि सुने, किन्तु जिसकी रुचिमें ही विकार भरा है उसे शुद्धात्मा की सुगंध रुचि नहीं आती। जीवोंने अंतरमें विकार की रुचि रखकर श्रवण किया इसलिये उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद नहीं आया।

आधार न० १—योगीन्दु देवकृत योगसार दोहा न० ५३ में भी स्पष्ट कहा है कि—

शास्त्र पठन्तः ते अपि जड़ा आत्मानं ये न जानन्ति।
तस्मिन् कारणे (तेन कारणेन) एते जीवा' स्फुटं न खलु निर्वाणं लभन्ते ॥५३॥

अर्थ—जो शास्त्रोंको तो पढ़ लेते हैं परन्तु आत्मा को नहीं जानते वे लोग भी जड़ ही हैं। तथा निश्चय से इसीकारण ये जीव निर्वाण को नहीं पाते यह स्पष्ट है।

नोट—शास्त्र अथवा भगवान् की दिव्यध्वनि दोनों एक ही हैं।

आधार नं० २–निमित्तों से जीवका भला नहीं होता इस बातको भया भगवतीदासजी ने ब्रह्म विलास पृ० २३२ से २३६ में ४७ दोहों में अत्यन्त स्पष्ट कहा है उसमें दोहा नं० ८ में यही कहा है कि—

देव जिनेश्वर गुरु यती, अरु जिन आगम सार।
इहि निमित्ततैं जीव सब, पावत हैं भवपार ॥ ८ ॥

इस कथन का खंडन करते हुए उपादान का कथन निम्नप्रकार है कि—

यह निमित्त इस जीवको, मिल्यो अनन्तीबार।
उपादान पलट्यो नहीं, तो भटक्यो संसार ॥ ९ ॥

आगे फिर कहा है कि—

उपादान कहै तूं कहा, चहुंगतिमें ले जाय।
तो प्रसादतैं जीव सब, दुखी होंहि रे भाय ॥ ३३ ॥

अतः कथन नं० १० भी आगम सम्मत है।

कथन नं० ११

"सम्मेदशिखर गिरनार आदि के वातावरणसे धर्मकी रुचि होती है ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है"

(मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० १७२)

विवेचन—यहां भी जिसरूपमें कथन उद्धृत किया गया है वैसा नहीं है अतः मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० १६९, १७० में अध्याय ७ के प्रवचनका पूर्ण प्रसंग प्रस्तुत किया जाता है।

परिणाम शुद्ध हुए विना व्यवहारसे अरिहन्त को भी स्वर्ग मोक्षादि के दाता कहा नहीं है। अरिहंत देव तथा वाणी पर वस्तु है। शुभभाव पुण्याश्रव है उससे रहित चिदानंद की दृष्टिपूर्वक शुद्ध परिणाम करे–वह मोक्ष दातार है तो अरिहंतको उपचारसे

मोक्षदातार कहा जाता है। जितना शुभभाव शेष रहता है उसके निमित्त से स्वर्ग प्राप्त होता है। तो फिर भगवान् को निमित्तरूपसे स्वर्गदाता भी कहा जायगा। यदि भगवान् इस जीवके शुभ या शुद्ध परिणामों के कर्ता हों तो वे निमित्त नहीं रहते किन्तु उपादान हो गये इसलिए यह भूल है।

कोई यह कहे कि सम्मेदशिखर और गिरनार का वातावरण ऐसा है कि धर्मकी रुचि होती है तो ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। पुनश्च यह कहते हैं कि अरिहंत भगवान्‌का नाम सुनकर कुत्तों आदिने स्वर्ग प्राप्त किया है, अब अज्ञानी तो मानता है कि भगवान् के नाममें तो बड़ा अतिशय है किन्तु यह भ्रान्ति है (क्योंकि) अपने परिणामोंमें कषायकी मंदता हुए बिना मात्र नाम लेनेसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती तो फिर नाम सुननेवालों को कहां से होगी। परिणाम के बिना फल नहीं है। नाम तो परवस्तु है यदि उससे शुभ परिणाम हों तो सबके होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता—जो दृष्टान्त दिया गया है उसमें उन श्वानादिकने अपने परिणामों में कषाय की मंदता की है, और उसके फलस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति हुई है। नाम के कारण शुभभाव नहीं होते, कोई भगवान् के समवसरणमें गया अथवा मंदिरमें गया किन्तु वहां व्यापारादिक के अशुभ परिणाम करे तो क्या भगवान् उन्हें बदल देंगे। अपने पुरुषार्थ पूर्वक शुभभाव करे तो भगवान्‌को निमित्त कहा जाता है, यहां भगवान् के नाम की मुख्यता करके उपचारसे कथन किया है (मोक्षमार्ग किरण पृ० १७०)

इस प्रसंग में तीर्थयात्रा के प्रति अपूर्व भक्ति करते हुए पूज्य स्वामीजीका निम्न प्रवचन आत्मधर्म वर्ष १६ अक ६ सीरियल न० १८८ के पत्र ३२८ व ३२६ पठनीय हैं जिससे ज्ञात होगा कि उन्हें तीर्थोंके प्रति कितनी भक्ति है—

"अहा, सवेरे इस पावागढ क्षेत्र पर आये, तभीसे लव-कुशकी याद आरही है—उनका जीवन मानो दृष्टिके समक्ष ही तैर रहा है—दोनों

रामपुत्र विवाहित थे, फिर भी अंतरमें भान था कि अरे ! इस क्षणभंगुर संसारमें कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी कौन पुत्र और कौन माता ? पुत्रको माताने गोदमें लिया उसके पूर्व तो अनित्यताने उसे अपनी गोदमें ले लिया है। माता पुत्रको गोदमें लेकर उसका मुंह देखे उससे पूर्व ही अनित्यता उसे पकड लेती है। प्रतिक्षण उसकी आयु कम होने लगती है। ऐसा है यह अनित्य संसार। संयोगों की स्थिति ही ऐसी है, उसमें कहीं शरण नहीं है, माता की गोद भी अशरण है, वहाँ दूसरे की क्या बात ! हम तो अब अपने नित्य चिदानन्द स्वभावकी गोदमें जायेंगे—वही हमारे लिये शरणभूत है तथा उसीमें हमारा विश्वास है। जहां हमारा विश्वास है वहीं हम जायेंगे। अनित्य संयोगोंका विश्वास हमें नहीं है, इसलिये उनमें हम नहीं रहेंगे—संयोगोंके ओरकी वृत्ति छोड़कर हम असंयोगी स्वभावमें स्थिर होंगे।—हमें निःशंक विश्वास है कि स्वभावमें ही हमारा सुख है और संयोगमें सुख नहीं है। अनादिसे हमारे साथ रहनेवाला ऐसा जो हमारा नित्य चिदानंद स्वभाव उसीका विश्वास करके अब हम उसीके पास जायेंगे—संयोगसे दूर और स्वभावके निकट....। उस स्वभावका मार्ग हमने देखा है.... उसी परिचित मार्ग पर चलकर हम मुक्ति सुन्दरी का वरण करेंगे।

देखो, यह निःशंकता ! धर्मात्माको अन्तरमें यह निःशंक प्रतीति होती है कि—हमने मार्ग देखा है ..... और उसी मार्ग पर चल रहे हैं यही मार्ग होगा या दूसरा ? आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ होगा या नहीं ? ऐसा कोई संदेह धर्मीको नहीं होता। हमने अपने स्वानुभवसे मार्ग देखा और उसी परिचित मार्ग पर हमारा आत्मा चल रहा है—ऐसी निःशंक दृढ़ता धर्मात्मा को होती है। ऐसे निःशंक निर्णयपूर्वक दोनों राजकुमार दीक्षा लेकर चैतन्यमें लीन हुए और केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धपुरमें पहुँचे। इस पावागढ क्षेत्रके जिस स्थानसे उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, उसीके ठीक ऊपर इस समय सिद्धभगवान् के रूपमें विराज रहे हैं ......

ऊपर अनन्त सिद्धभगवन्तों का समूह बैठा है। उन सिद्धोंका स्मरण बहुमान करनेमें यह सिद्धक्षेत्र निमित्त है।

लव-कुशकुमार, लाड देशके नरेन्द्र और पाच करोड़ मुनिवरने यहीं से मोक्ष प्राप्त किया और इस समय लोकाग्रमे विराजमान हैं, ऐसे सिद्धभगवान् को यथार्थरूपसे जानले तो संसारका विश्वास उड जाये और सिद्धभगवान् जैसे चिदानन्द स्वभाव का विश्वास हो तथा सिद्धिका पंथ मिलजाये......इसका नाम तो तीर्थयात्रा! ऐसी तीर्थ-यात्रा करनेवाला जीव ससारसे पार हुए विना नहीं रहता।"

सिद्धक्षेत्र पर अतीन्द्रिय भोजनका आमत्रण करनेवाला पू० स्वामीजीका प्रवचन आत्मधर्म वर्ष १६ अक ८ सीरियल न० १८८ के पत्र ३३१ पर—

देखो, इसमें सम्यग्दर्शन प्रगट करने तथा मोक्षमार्ग होने की बात है। लव-कुशके आत्माओंने किसप्रकार सिद्धपद प्राप्त किया-वह बात भी इसमें आजाती है। यही मुक्तिका मार्ग, यही सच्चा मगल तथा यही भव्य जीवों को शरणभूत है।

धर्मात्मा मुनीश्वरोंको अपना एक चिदानन्द स्वभाव ही प्यारा है, और जो वस्तु स्वयको प्रिय लगती है उसीके लिये जगतको आमत्रित करते हैं कि हे जीवो! तुम भी ऐसे चिदानन्द स्वरूपी हो, तुम भी उसीका आश्रय करके अतीन्द्रिय आनन्दका भोजन करो।

जिसप्रकार तीर्थमें संघको भोज देते हैं अथवा विवाहादि कार्योंमें प्रीतिभोज दिया जाता है, उसीप्रकार यहाँ मोक्षको साधते-साधते मोक्षमार्गी सन्त जगतको अतीन्द्रिय आनन्दका भोज देते हैं—मोक्षके मण्डपमें सारे जगतको आमंत्रित करते हैं कि हे जीवो! आओ.. .आओ.....। तुम भी हमारी भाँति आत्मोन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्दका भोजन करो...उसका स्वाद लो।

आज यात्राका प्रथम दिवस है....सोनगढ़से निकलनेके बाद पहली यात्रा इस पावागढ़ सिद्धक्षेत्र की हुई है—यहाँ लव-कुश मुनिवरों-का स्मरण करके यह बतलाया है कि उन्होंने किसप्रकार मोक्ष प्राप्त किया। उस मार्गको समझकर अन्तरोन्मुख होना सो सिद्ध भगवन्तोंका भाव-नमस्कार है, वहीं सिद्धिधामकी निश्चययात्रा है। और जहांसे उन्होंने मोक्षप्राप्त किया हो, ऐसे सिद्धक्षेत्रोंकी यात्रा- वन्दना का भाव सो द्रव्य-नमस्कार है, वह व्यवहार-यात्रा है। ऐसी निश्चय-व्यवहारकी संधि साधक के भावमें होती है।

शास्त्राधार—

तीर्थक्षेत्रोंमें धर्म नहीं रखा है जो वहां जाकर ले आवे ऐसा स्व. श्री प० सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा० २ की भाषा टीका में निम्नप्रकार कहा है:—

धर्मका स्वरूप कहने के लिए श्री समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा० २ में कहा है कि—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान्, योधरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

अर्थ—मैं (समंतभद्राचार्य) ग्रन्थकर्ता, इस ग्रन्थमें उस धर्मका उपदेश परिवर्तनरूप संसारके दुःखों से निकालकर स्वर्गमोक्षके बाधारहित उत्तम सुखोंमें धारण करे। वह धर्म कैसा है जिसमें वादी प्रतिवादी कर तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि कर बाधा नहीं आती, और जो कर्म बंधनको नष्ट करनेवाला है उस धर्मको कहता हू।

भावार्थ—ससारमें धर्म ऐसा नाम तो सभी लोग कहते हैं परन्तु धर्म शब्दका अर्थ तो ऐसा है जो नरक तिर्यंच आदि गतिमें परिभ्रमण रूप दुःखोंसे आत्माको छुड़ाकर उत्तम आत्मिक, अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्ष

सुखमें धारण करे वह धर्म है। ऐसा धर्म मोल नहीं आता जो धन देकर अथवा दान सम्मान आदि से प्राप्त करे तथा किसीका दिया हुआ नहीं आता जो सेवा उपासना से प्रसन्न कर लिया जाय। तथा मन्दिर, पर्वत, जल अग्नि, देवमूर्ति तीर्थ आदिमें नहीं रखा है जो वहां जाकर ले आवे। तथा उपवास, व्रत, कायक्लेशादि तपमें भी, शरीरादि कृश करनेसे भी नहीं मिलते। तथा देवाधिदेवके मन्दिरोंमें उपकरणदान मण्डल पूजनादि द्वारा तथा गृह छोड़ वन स्मशानमें बसने से तथा परमेश्वर के नाम जाप्यादिक द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। धर्म तो आत्माका स्वभाव है। जो परमें आत्मबुद्धि छोड़ अपना ज्ञाता दृष्टारूप स्वभावका श्रद्धान अनुभव तथा ज्ञायक स्वभावमें ही प्रवर्त्तनरूप जो आचरण सो धर्म है। तथा उत्तम-क्षमादि दशलक्षणरूप अपना आत्मा का परिणमन तथा रत्नत्रय रूप तथा जीवोंकी दयारूप आत्माकी परिणति होय तब आत्मा आप ही धर्मरूप होगा। पर द्रव्य-क्षेत्र, कालादि तो निमित्तमात्र हैं। जिसकाल यह आत्मा रागादिरूप परिणति छोड़ वीतराग रूप हुआ देखता है तब मन्दिर, प्रतिमा, तीर्थ, दान, तप, जप समस्त ही धर्मरूप है। अर अपना आत्मा उत्तम क्षमादिरूप वीतरागरूप, सम्यग्ज्ञान रूप नाहीं होय तो वहाँ कहीं भी धर्म नाहीं होय। शुभराग होय तो पुण्यबंध होय है। अर अशुभ राग द्वेष मोह होय तहाँ पाप बंध होय है। [रत्न० श्रा० पृ० न० २]

श्री बुधजनजीने १२ भावना में धर्म सम्बन्धमें कहा है कि—

"जिय! न्हान धोना, तीर्थजाना धर्म नहीं तप तपा, वर धर्म निज आतम स्वभावी ताहि बिन सब निष्फला। बुद्धजन धरमनिजधार लीना तिनहिं सब कीना भला॥"

बृ० समाधिभाषामें भी कहा है कि—

'भव भवमें जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।

भव भवमें मैं समवसरणमें, देख्यो जिनगुण भीनो।
एती वस्तु मिली भवभवमें सम्यक् गुण नहिं पायो ॥४॥

नोंध—अतः भगवान तीर्थक्षेत्र आदि तो निमित्तमात्र है, यह जीव भेदज्ञान द्वारा स्वसन्मुखतारूप निजशक्ति प्रगट करे अर्थात् उपादान कार्य करे तो निमित्तका ज्ञान कराने के लिये उसको असद्भूत व्यवहारनयसे उपचार कारण कहा जाता है। उपरोक्त कथन न० ११ भी आगमानुकूल ही है।

कथन नं० १२

"जीओ और जीने दो ऐसा अज्ञानी कहते हैं"

(मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० १८४)

विवेचन—इस सबधमें मो० किरण पृ० १८४, ८५ में पूरा प्रकरण अज्ञानी की शास्त्र संबधी भूलोंके अन्तर्गत निम्नप्रकार आया है।

"जियो और जीने दो" ऐसा अज्ञानी कहते हैं (परन्तु) किसीका जीवन किसी परके आधीन नहीं है, शरीर या आयु से जीना यह आत्माका जीवन नहीं है। अपनी पर्यायमें पुण्य पाप के भाव स्वभाव की दृष्टि पूर्वक न होने देना और ज्ञाता दृष्टा रहना उसका नाम जीवन है।" × × × कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ की क्रिया नहीं कर सकते। अपने ज्ञानानंद स्वभावके भानपूर्वक राग न होने देना तथा रागरहित लीनता करना यह अहिंसा और दया है और ऐसे भानपूर्वक दूसरे प्राणियों को दुःख न देने का भाव सो व्यवहार दया है, वह पुण्यास्रव है। आत्मा पर जीवकी पर्यायका तथा शरीर, वाणीकी पर्याय का कर्त्ता नहीं है। यदि जड़ की क्रिया आत्मासे हो तो जड़ के द्रव्य और गुणने क्या किया? जगतको अनेकान्त तत्त्वकी खबर नहीं है। आत्मामें जड़ नहीं है और जड़में आत्मा नहीं है, इसप्रकार जिसे अनेकान्त की खबर नहीं है और बाह्यमें दया मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

शास्त्राधार नं० १—

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में जैन धर्म के अनुयायी मिथ्यादृष्टिका स्वरूप अ० ७ में आस्रव तत्त्वकी भूलमें वर्णन है (पृ० न० ३३२ देहली सस्ती ग्रन्थमाला) कि सर्व जीवोंके जीवन मरण सुख दुःख अपने कर्मके निमित्ततैं हो है। जहां जीव अन्य जीवके इन कार्यनिका कर्त्ता होय, सोई मिथ्याध्यवसाय बंधका कारण है। तहां अन्य जीवनिको जिवावनेका या सुखी करनेका अध्यवसाय होय सो तो पुण्यबंधका कारण है, अर मारने का या दुखी करनेका अध्यवसाय होय, सो पापबंधका कारण है। ऐसे अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्य बन्धकौ कारण है और हिंसावत असत्यादिक पापबंधको कारण है। ए सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, ते त्याज्य हैं। तातैं हिंसादिवत् अहिंसादिकको भी बंधका कारण जानि हेय ही मानना। हिंसाविषै मारने की बुद्धि होय सो वाका आयु पूरा हुआ विना मरै नाहीं। अपनी द्वेष परिणति करि आप ही पाप बांधै है। अहिंसाविषै रक्षा करने की बुद्धि होय, सो वाका आयु अवशेष बिना जीवे नाही, अपनी प्रशस्त राग परिणतिकरि आप ही पुण्य बांधै है। ऐसे दोऊ हेय हैं। जहा वीतराग होय दृष्टा ज्ञाता प्रवर्तै, तहां निर्बंध है सो उपादेय है, सो वीतराग ऐसी दशा न होय-तावत प्रशस्त रागरूप प्रवर्तै। परन्तु श्रद्धान तो ऐसा राखौ- यह भी बंधका कारण है—हेय है।

आधार नं० २—सर्व जीवोंका जीवन-मरण किसप्रकार होता है, इस विषयमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार शास्त्र गाथा २५४ से २५६ में निम्नप्रकार कहा है—

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥ २५४ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५ ॥

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं॥ २५६॥

अर्थ—जो सभी जीव (ससारी जीव) कर्मके उदयसे दुखी सुखी होते हैं, और तू उन्हें कर्म तो देता नहीं है, तो (हे भाई) तूने उन्हें दुखी-सुखी कैसे किया। यदि सभी जीव कर्मके उदय से दुखी-सुखी होते हैं, और वे तुझे कर्म तो नहीं देते, तो (हे भाई) उन्होंने तुझे दुखी कैसे किया। यदि सभी जीव कर्मके उदयसे दुखी सुखी होते हैं, और वे तुझे कर्म तो नहीं देते, तो (हे भाई) उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया। यही श्री अमृत-चन्द्राचार्यने कलश नं० १६८ में कहा है कि इस जगतमें जीवोंके मरण जीवित, दु ख सुख सब सदैव नियमसे (निश्चित् रूपसे) अपने कर्मोदयसे होता है किन्तु यह मानना तो अज्ञान है कि—दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन दुख सुखको करता है। १६८।

इसप्रकार शास्त्राधारसे उक्त कथनके मर्मका कोई विरोध नहीं होता। अत कथन न० १२ भी आगम सम्मत है।

कथन नं०—१३

मन वचन कायकी क्रिया वन्धका कारण नहीं है

(मोक्षशास्त्र पृ० ६५६ आवृत्ति तीसरी)

विवेचन—यहाँ पर यह वाक्य निम्नलिखित प्रकरणमें निम्नप्रकार आया है :—

गुप्तिका स्वरूप

"कुछ लोग मन-वचन-कायकी चेष्टा दूर करने, पापका चिन्तवन न करने, मौन धारण करने तथा गमनादि न करनेको गुप्ति मानते हैं, किन्तु यह गुप्ति नहीं है, क्योंकि जीवके भक्ति आदि प्रशस्त रागादिकके अनेक प्रकारके विकल्प होते हैं और वचन कायकी चेष्टा रोकनेका भाव है सो तो

शुभप्रवृत्ति है, प्रवृत्तिमें गुप्तिपना नहीं बनता। इसलिये वीतरागभाव होने पर जहां मन–वचन–कायकी चेष्टा नहीं होती वहां यथार्थ गुप्ति है। यथार्थ रीत्या गुप्तिका एक ही प्रकार है और वह वीतरागभावरूप है। निमित्तकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद कहे हैं। मन, वचन, काय तो परद्रव्य है, इसकी कोई क्रिया बंध या अबंधत्वका कारण नहीं है। वीतरागभाव होनेपर जितने अंशमें यह मन वचन कायकी तरफ नहीं लगता उतने अंशमें निश्चय गुप्ति है और यही संवरका कारण है।"

नोट—श्री पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशकमें अध्याय ७ पृ० ३३५ में सात तत्त्वोंका अन्यथारूप बताया है उसीका यह स्पष्टीकरण है।

मात्र मन वचन कायकी क्रियासे बन्ध नहीं हो सकता उसके लिए शास्त्राधार १ श्री समयसार गाथा २३७ से २४१ में इसप्रकार कहा है—

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेलका।
व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक खड़ा॥ २३७॥
अरु ताड कदली, बांस आदिक छिन्नभिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्योंका करे॥ २३८॥
बहु भांतिके करणादिसे उपघात करते उसहिको।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों ?॥ २३९॥
यों जानना निश्चयपनें–चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं काय चेष्टा शेष है॥ २४०॥
चेष्टा विविधमें वर्तता, इस भांति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोगमें रागादि करता, रजहिसे लेपाय वो॥ २४१॥

श्री अमृतचन्द्राचार्यने टीकामें स्पष्ट कह दिया है कि (१) भूमि है वह रजके बंधका कारण नहीं, (२) व्यायामरूपी क्रिया रजके बन्धका

कारण नहीं, (३) अनेक प्रकारके कारण भी रजबन्धके कारण नहीं, (४) सचित्त अचित्त वस्तुका घात भी रजबन्धका कारण नहीं किन्तु पुरुषमें तैलका मर्दन ही उस रजबन्धका कारण है।

इसीप्रकार यहां विचार करो कि उस पुरुषके बन्धका कारण कौन है ? (१) स्वभावसे ही जो बहुतसे कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ है ऐसा लोक बन्धका कारण नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धोंको भी—जो कि लोकमें रह रहे हैं उनके भी बन्धका प्रसंग आ जायेगा। **काय-वचन-मन का कर्म (अर्थात् काय-वचन-मनकी क्रिया स्वरूप योग) भी बंधका कारण नहीं है, क्योंकि** यदि ऐसा हो तो यथाख्यात संयमियोंके भी (काय-वचन-मनकी क्रिया होनेसे) बन्धका प्रसग आयेगा।.. ... . **इसलिये न्यायबलसे फलित हुआ कि उपयोगमें रागादि करण (अर्थात् उपयोगमें रागादिकका करना) बन्धका कारण है।**

नोट—बंधके कारण उपयोगमें रागादिककी एकत्वबुद्धि ही है, काय वचन मनकी क्रिया नहीं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३३५ में भी कहा है कि:—

"बाह्य मन वचन कायकी चेष्टा मेटैं, पापचिंतवन न करै, मौन धरै, गमनादि न करे, सो गुप्ति मानैं है सो यहां तौ मन विषैं भक्ति-आदि-रूप प्रशस्तरागादि नानाविकल्प हो है, वचन कायकी चेष्टा आप रोकि राखी है, तहां शुभ प्रवृत्ति है, अर प्रवृत्ति विषैं गुप्ति पनो बनैं नाहीं। तातैं **वीत-रागभाव भए जहां मनवचन कायकी चेष्टा न होय, सो ही सांची गुप्ति है।"**

मोक्षमार्ग प्र० पृ० ३३३ में कहा है कि—

"बहुरि बाह्य चेष्टा होय ताकौ योग जानै, शक्तिभूत योगनिकों न जानै। ऐसे आश्रवनिका स्वरूप अन्यथा जानै, बहुरि रागद्वेष मोहरूप जे

आश्रवभाव हैं, तिनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं। अर बाह्यक्रिया या बाह्यनिमित्त मेटने का उपाय राखै, सो तिनके मेटै, आश्रव मिटता नाहीं। द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा न करे है, हिंसा वा विषयनि विषै न प्रवर्तै है, क्रोधादि न करे है, मन-वचन कायको रोके है, तो भी वाके मिथ्यात्वादि चारों आश्रव पाइये है। बहुरि कपट करि भी ए कार्य न करे है। कपट करि करै, तो ग्रैवेयक पर्यंत कैसे पहुँचे। तातैं जो अंतरंग अभिप्रायविषैं मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव है, सो ही आश्रव है ताकौ न पहिचानै, तातैं वाकै आश्रव तत्वका भी सत्य श्रद्धान नाहीं।"

अतः उक्त कथन नं० १३ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं०—१४

"आत्मा में कर्मों से विकार नहीं होता"

(समयसार प्रवचन भाग १ पृ० ६१)।

विवेचन—यह विषय समयसार गाथा २ में जीवको परसमय क्यों कहा उसके उत्तरमें निम्नप्रकार आया है।

जो जीव अपने गुण पर्यायमें स्थिर न रहकर परद्रव्य के सयोगमें अर्थात् पुद्गलकर्म प्रदेशमें स्थित हो रहा है उसे अज्ञानी कहा है।

प्रश्न—क्या अल्पज्ञ जीव सूक्ष्म कर्मके प्रदेशोंको देखता है।

उत्तर—नहीं, नहीं देखता, किन्तु मोहकर्मकी फलदायी शक्तिके उदयमें युक्त हो तो ही वह परसमय स्थित कहलाता है। अपनेमें युक्त होनेसे अर्थात् स्थिर रहने से विकार उत्पन्न नहीं होता, विकार तो पर निमित्तमें जुड़नेसे होता है। स्वय निमित्ताधीन होने पर अपनी अवस्थामें विकारभाव दिखाई देता है। कर्म सयोगी-विकारी पुद्गलकी अवस्था है, उस ओर झुकनेवाला भाव विकारी जीवभाव है यह पुद्गल कर्म प्रदेशमें युक्त होनेसे

उत्पन्न होता है। जड़कर्म बलात् विकार नहीं करा सकते; किंतु स्वयं अपने को भूलकर पुद्गल प्रदेशों में स्थित हो रहा है। राग द्वारा स्वयं परावलम्बीभाव करता है। कर्मोंने जीवको नहीं बिगाडा किन्तु जीव स्वयं अशुद्धता धारण करता है तब कर्मोंकी उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। इसलिये उस विकारके द्वारा व्यवहारसे परसमयमें स्थित कहलाया।

किन्तु जिसकी परके ऊपर दृष्टि है, और परसे मैं जुदा हूं यह प्रतीति नहीं है ऐसा जीव कर्मकी उपस्थितिकी जहां बात आई वहां निमित्त के पीछे ही पडता है और बाहर से सुनकर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्रों में कर्मोंको निमित्तमात्र कहा है, ये आत्मा से परवस्तु हैं। परवस्तु किसीका कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

शास्त्राधार १—

प्रवचनसार अ० १ गा० ४५ की टीकामें श्री जयसेनाचार्यने निम्नप्रकार कहा है।

"औदयिका भावाः बंधकारणम्"

इसका अर्थ इतना ही है कि जो जीव मोहोदयमें युक्त हो तो बंध होता है। द्रव्यमोहका उदय होने पर भी यदि जीव शुद्धात्म भावनाके बल द्वारा भाव मोहरूप परिणत न हो तो बंध-विकार नहीं होता, यदि जीवको कर्मके उदय मात्रसे बंध होता हो संसारी को सर्वदा कर्मोदय की विद्यमानता होनेसे सर्वदा बंध ही हो, कभी मोक्ष होगा ही नहीं।

आधार नं० २—

समयसार नाटक सर्व विशुद्धि द्वारमें श्री पं० बनारसीदासजी ने काव्य नं० ६१ से ६६ में निम्नप्रकार कहा है.—

कोऊ शिष्य कहे स्वामी रागद्वेष परिनाम,
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम्ह कौन है ।
पुग्गल करमजोग किधौं इन्द्रिनीकौ भोग,
किधौ परिजन किधौं धन किधौं भौन है ।
गुरु कहे छहो दर्व अपने अपने रूप
सबनिकौं सदा असहाई परिनौन है
कोउ दर्व काहू कौन प्रेरक कदाचि तातैं
राग द्वेष मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥६१॥

(अचौन—पीना)

मूर्ख प्रश्न—गुरु उत्तर—

कोउ मूरख यों कहे, राग द्वेष परिणाम ।
पुग्गल की जोरावरी, वरते आतमराम ॥६२॥
ज्यों ज्यों पुग्गल बल करे, धरि धरि कर्मज भेष ।
राग द्वेषको परिणमन, त्यों त्यों होय विशेष ॥६३॥
यह ही जो विपरीत पख गहै सरदहै कोइ ।
सो नर राग विरोधसों कबहूं भिन्न न होइ ॥६४॥
सुगुरु कहे जगमें रहे, पुग्गल संग सदीव ।
सहज शुद्ध परिणमनको, औसर लहे न जीव ॥६५॥
तातैं चिद्भावनि विषै समरथ चेतन राव ।
राग विरोध मिथ्यात्वमें, सम्यकमें शिवभाव ॥६६॥

आधार ३—पचास्तिकाय गाथा ६२ में तथा टीकामें कहा है कि शुद्धतामें या अशुद्धतामें जीव और कर्मों को छहों कारक (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण) अपने अपने में पूर्णतया स्वतत्र तथा अन्यसे निरपेक्ष होते हैं ।

इसप्रकार कथन नं० १४ शास्त्र सम्मत है।

थन नं० १६—

व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रयका कारण नहीं है।

(मोक्षशास्त्र पृ० १२३—१८०)

कथन नं० २१

महाव्रतादि से संवर नहीं होता।

(मोक्षशास्त्र पृ० ६१८)

नोट—उपरोक्त दोनों कथन लगभग एक ही अभिप्रायके द्योतक होने से तथा दोनों ही कथन सकेत किये हुए पत्रों पर हमको नहीं मिलने से सभव है आवृत्ति कई प्रकाशित हो जाने के कारण पृष्ठ सख्यामें अतर पड़ गया हो इन कारणों से दोनों विषयों के उत्तररूप प्रमाणादि हम एक साथ ही निम्नप्रकार से दे रहे हैं।

आक्षेप नं० १६—

व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रयका कारण नहीं है।

(मोक्षशास्त्र पृ० १२३-१८०)

उत्तर—उपरोक्त पृष्ठों पर यह विषय नहीं है, किन्तु तीसरी आवृत्ति पृ० १२७ में निम्नप्रकार मिलता है—

प्रश्न—क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है?

उत्तर—प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब विकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनका अभाव होता है। इसलिये यह (व्यवहार सम्यग्दर्शन) वास्तवमें निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक नहीं है, तथापि उसे भूत नैगमनयसे साधक कहा जाता है, अर्थात् पहले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था वह निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट

होने समय अभावरूप होता है। इसलिये जब उसका अभाव होता है तब पूर्वकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्म-प्रकाश गाथा १४० पृ० १४३ प्रथमावृत्ति सं० टीका) इसप्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण नहीं किन्तु उसका अभाव कारण है।

कथन नं० २१—

महाव्रतादिसे संवर नहीं होता।

(मोक्षशास्त्र पृष्ठ ६१८)

विवेचन—मोक्षशास्त्र अ० ७ है वह आश्रव अधिकार है उसमें भी ऐसा शब्द नहीं है किन्तु अणुव्रत-महाव्रतके सम्बन्धमें निम्नप्रकार कहा है—(मोक्षशास्त्र अ० ७ आवृत्ति तीसरी पृष्ठ ५४७) इन पाँच पापोंसे (बुद्धिपूर्वक) निवृत्ति होना सो व्रत है। सू० १।

टीका

इस अध्यायमें आश्रवतत्त्वका निरूपण किया है, छठे अ० के १२ वें सूत्रमें कहा था कि व्रतीके प्रति जो अनुकम्पा है सो सातावेदनीयके आश्रवका कारण है, किन्तु वहाँ मूलसूत्रमें व्रतीकी व्याख्या नहीं की गई थी, इसलिये यहाँ इस सूत्रमें व्रतका लक्षण दिया गया है। इस अ० के १८ वें सूत्रमें कहा है कि "निःशल्यो व्रती" मिथ्यादर्शन आदि शल्य रहित ही जीव व्रती होता है अर्थात् मिथ्यादृष्टिके कभी [सच्चे] व्रत होते ही नहीं, सम्यग्दृष्टि जीवके ही सत्यार्थ व्रत हो सकते हैं। भगवान्‌ने मिथ्यादृष्टिके शुभरागरूप व्रतको बालव्रत कहा है। (स० सार गाथा १५२ तथा टीका) बालका अर्थ अज्ञान है।

इस अध्यायमें महाव्रत और अणुव्रत भी आश्रवरूप कहे हैं, इसलिये वे उपादेय कैसे हो सकते हैं। आश्रव तो बन्धका ही साधक है अत' महाव्रत और अणुव्रत भी बन्धके साधक हैं और वीतराग भावरूप जो चारित्र है सो मोक्षका साधक है। इससे महाव्रतादिरूप आश्रवभावोंको

चारित्रपना सम्भव नहीं, सर्व कषाय रहित जो उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। जो चारित्रमोहके उदयमें युक्त होनेसे महामद प्रशस्त राग होता है वह चारित्रका मल है, उसे छूटता न जानकर उनका त्याग नहीं करता; सावद्ययोगका ही त्याग करता है। जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि अधिक दोषवाली हरितकायका त्याग करता है, तथा दूसरे हरितकायका आहार करता है किन्तु उसे धर्म नहीं मानता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्रकषायरूप भावोंका त्याग करता है तथा कोई मद कषायरूप महाव्रत अणुव्रतादि पालता है, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता। (मो० प्र० पृ० ३३६-३३७ से)

दोनों विषयों पर शास्त्राधार निम्नप्रकार है

आधार नं० १—

परमात्म प्रकाश अध्याय २ गाथा १४ (३ रा संस्करण) की टीका इस सम्बन्धमें पठनीय है—

क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक है? इस विषयमें आचार्यदेवने कहा है, "अथवा साधको व्यवहार मोक्षमार्ग' साध्यो निश्चय मोक्षमार्गः अत्राह शिष्यः। निश्चय मोक्षमार्गो निर्विकल्प तत्काले सविकल्प मोक्षमार्गो नास्ति कथ साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति।"

अर्थ—शिष्यका प्रश्न-क्या व्यवहार मोक्षमाग साधक तथा निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है, निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है उस समय सविकल्प (व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं है अत. मोक्षमार्ग साधक कैसे हो सकता है? समाधान—भूतनैगमनयसे परम्परा कारण है, अर्थात् उसका अभाव कारण है।

आधार नं० २—

मोक्षमार्ग प्रकाशक पत्र ३३७

"उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्रकषायरूप भावोंका त्याग करता है तथा कोई मंद कषायरूप महाव्रत अणुव्रतादिको पालते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।"

नोट—सम्यग्दृष्टि मुनि भी महाव्रतको आश्रवतत्त्व अर्थात् बन्धका कारण समझते हैं इसप्रकार व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रयका कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

आधार नं० ३—(२१) मोक्षमाग प्रकाशक पृ० ३७६ में कहा है—"बहुरि कोई ऐसैं मानैं कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग को कारण है। सो जैसैं अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है, तैसैं शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है-ऐसैं ही कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोगका कारण अशुभोपयोग ठहरे। अथवा द्रव्यलिंगी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट हो है, शुद्धोपयोग होता ही नाहीं। तातैं परमार्थ तैं इनकै कारण कार्यपना है नाहीं। जैसें रोगी कैं बहुत रोग था, पीछें स्तोक रोग भया, तो वह स्तोक रोग तो निरोग होनेका कारण है नाहीं।

इतना है, स्तोक रोग रहैं निरोग होनेका उपाय करे तो होइ जाय। बहुरि जो स्तोक रोग ही कों भला जानि ताका राखनेका यत्न करै तो निरोग कैसैं होय। तैसैं कषायी कै तीव्र कषाय रूप अशुभोपयोग था, पीछे मंदकषायरूप शुभोपयोग भया, तो वह शुभोपयोग तो निःकषाय शुद्धोपयोग होने को कारण है नाहीं। इतना है—शुभोपयोग भये शुद्धोपयोग का यत्न करै तो होय जाय। बहुरि जो शुभोपयोग ही कों भला जानि ताका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसैं होय। तातैं मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग कों कारण है नाहीं। सम्यग्दृष्टिकै शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्त

होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोगकों शुद्धोपयोग का कारण भी कहिये है, ऐसा जानना।"

आधार नं० ४—श्री कुन्दकुन्दाचायकृत द्वादशानुप्रेक्षा गा० ५६ में भी कहा है—

पारंपज्जाएण दु आसव किरिया ए णत्थि णिव्वाणं।
संसार गमण कारणमिदि, णिंदं आसवो जाण ॥ ५६ ॥

अर्थ—कर्मोका आश्रव करनेवाली क्रियासे परम्परासे भी निर्वाण नहीं हो सकता है। इसलिये ससारमें भटकानेवाले आश्रवको निंद्य बुरा समझना चाहिये।

आधार नं० ५—प्रवचनसार गा० २४५ में ज्ञानीके शुभोपयोग को आश्रव तत्त्व कहा है—

श्रमणा, शुद्धोपयोग युक्ताः शुभोपयोग युक्ताश्च भवंति समये।
तेष्वपि शुद्धोपयोग युक्ता अनाश्रवाः साश्रवाः शेषाः ॥ २४५ ॥

अर्थ—शास्त्रमें ऐसा कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण है, शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं उनमें भी शुद्धोपयोगी निराश्रव हैं, शेष साश्रव हैं, (अर्थात शुभोपयोगी आश्रव सहित हैं।)

प्रवचनसार गा० ११ में मुनिका शुभोपयोग-सराग चारित्र विरोधी शक्ति सहित है, और वीतराग चारित्र विरोधशक्ति रहित है, अतः शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है। ऐसा आचार्य ने कहा है।

आधार—६—

पंचास्तिकाय गा० १६७ में भी जयसेनाचार्य ने कहा है कि श्री अरहंतादि में भी राग छोड़ने योग्य है पीछे गा० १६८ में कहा है कि धर्मी जीव का राग भी (निश्चयनय से) सर्व अनर्थ परम्पराका कारण है। संस्कृत तात्पर्यवृत्ति टीका १६८ "अथ सर्व अनर्थ परम्पराणां राग एव मूल

इत्युपदिशति। ततः स्थितं समस्त अनर्थ परम्पराणां रागादि विकल्पा एव लमिति ॥ १६८ ॥"

आधार ७—

मोक्षमार्ग प्रकाशक पत्र ३७६–७७ में कहा है कि—

"बहुरि नीचली दशा विषै केई जीवनि कै शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइए है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग कौं मोक्षमार्ग कहा है। वस्तु विचार तैं शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है, जातैं बंधकों कारण सोई मोक्षका घातक है ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग–अशुभोपयोग को हेय जानि तिनके त्यागका उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न होय सकै, तहां अशुभोपयोग को छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्तना। जातैं शुभोपयोगतैं अशुभोपयोगमें अशुद्धता की अधिकता है।"

आधार नं० ८—

श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका में भी कहा है कि—

निश्चय मोक्षमार्ग से मोक्ष, व्यवहार मोक्षमार्ग से बन्ध।

: अध्याय १ गाथा ८१ पृष्ठ ३४ :

दृष्टिर्निर्णीतिरात्मा ह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः
शुद्धं चारित्रमत्र स्थितिरिति युगपद्बन्ध विध्वंसकारि।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि परंस्याच्छुभो वा शुभो वा
बन्धः संसारमेवं श्रुतनिपुणधियः साधवस्तं वदन्ति ॥ ८१ ॥

संस्कृत टीका

आत्माह्वयविशदमहसि निर्णीतिः दृष्टिः निर्णयं दर्शनं भवति। अत्र आत्मनि बोधः प्रबोधः ज्ञानं भवति। अत्र आत्मनि स्थितिः शुद्धं चारित्रं

भवति। इति त्रितयमपि। युगपत बन्ध विध्वंसकारि कर्मबन्धस्फेटकम्। त्रितयं बाह्यं रत्नत्रयं, व्यवहाररत्नत्रयं बाह्यार्थ सूचकं जानीहि। पुनः बाह्यं रत्नत्रयं परं वा शुभो वा अशुभो वा बन्धः स्याद्भवेत्। श्रतनिपुणधियः मुनयः बाह्यार्थं संसारम् एव वदन्ति कथयन्ति ॥ ८१ ॥

हिन्दी अर्थ

आत्मा नामक निर्मल तेजके निर्णय करने अर्थात् अपने शुद्धात्मरूपमें रुचि होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। उसी आत्मस्वरूपके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इसी आत्मस्वरूपमें लीन होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। ये तीनों एक साथ उत्पन्न होकर बन्धका विनाश करते हैं। बाह्य रत्नत्रय केवल बाह्य पदार्थों (जीवाजीवादि) को ही विषय करता है और उसे शुभ अथवा अशुभ कर्मका बन्ध होता है जो ससार परिभ्रमणका ही कारण है। इसप्रकार आगमके जानकार साधुजन निरूपण करते हैं।

नोट—बाह्य रत्नत्रय कहो अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग कहो दोनों एकार्थवाची हैं।

आधार नं० ९—

मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पत्र—३३४

"यहाँ प्रश्न—जो मुनियोंकै एक काल एक भाव हो है, तहाँ उनके बन्ध भी हो है अर संवर निर्जरा भी हो है, सो कैसें है ?

ताका समाधान—यह भाव मिश्ररूप है। किछू वीतराग भया है, किछू सराग रह्या है। जे अंश वीतराग भए तिनकरि संवर है अर जे अंश सराग रहे तिन करि बन्ध है। सो एक भावतैं तो दोय कार्य बनैं परन्तु एक प्रशस्त राग ही तैं पुण्यास्रव भी मानना अर संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभाव विषैं भी यहु सरागता है, यहु विरागता है, ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि ही के होय। तातैं अवशेष सरागताकों हेय श्रद्धै है। मिथ्यादृष्टिके

ऐसी पहिचान नाहीं तातैं सरागभाव विषैं संवरका भ्रम करि प्रशस्त रागरूप कार्यनिकों उपादेय श्रद्धै है।"

"मोक्ष० प्र० पृ० ३४० में कहा है कि "स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोगका भी अंश रहै, तो जेती शुद्धता भई ताकरि तो निर्जरा है अर जेता शुभभाव है ताकरि बन्ध है। ऐसा मिश्रभाव युगपत हो है, तहाँ बन्ध वा निर्जरा दोऊ हो हैं।"

इसप्रकार कथन नं० १६ व २१ का कथन आगमानुकूल सिद्ध होता है।

सोनगढ़ साहित्यको कोई अपनी विरोध दृष्टिवश अर्थका अनर्थ करके ऊपर नीचेका कथन तोड़ मरोड़-कांट छांटकर अपनी ओरसे नया शब्द लगाकर गलत फहमी फैलानेकी चेष्टा करते हैं तो करो.........सत्य है वह सत्य ही रहेगा।

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

श्री कानजी स्वामी द्वारा व्यवहार धर्म पर प्ररूपणा

यह प्रायः कहा जाता है कि श्री कानजी स्वामी केवल निश्चयका प्रतिपादन करते हैं, व्यवहार प्रवृत्ति मार्गका निषेध करते हैं इससे धार्मिक प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जायेगी ऐसी आशंका कुछ महानुभावों द्वारा की जाती है।

भली प्रकार विचार करनेसे उपरोक्त कथन एव आशंका साधार प्रतीत नहीं होती। श्री कानजी स्वामी एव उनके उपदेशोंसे प्रभावित लोग भी उसीप्रकार भक्ति, दान, पूजा, तीर्थ वन्दना आदि करते हैं जिसप्रकार अन्य भाई करते हैं। इसे श्री कानजी स्वामीके विरोधी भाई भी मानते हैं किन्तु उनका केवल यही कहना है कि वे इस प्रवृत्ति मार्गको अपनी वाणीमें स्थान नहीं देते। किन्तु यह भी सत्य नहीं है।

उन्होंने प्रवृत्तिमार्गकी प्ररूपणामें अनेक कथन किए हैं और वे करते हैं, जिनका परिणाम है कि सौराष्ट्रमें अनेक दिगम्बर मन्दिर बन गए और बन रहे हैं किन्तु खेद इसी बातका है कि उनके इन कथनोंकी ओर विरोध करनेवाले भाइयोंका ध्यान नहीं जाता या जानबूझकर उधरसे आँख बन्द किए हुए हैं।

मुझे श्री स्वामीजीके 'देश व्रतोद्योतनम्' पर हुए प्रवचनोंके अनुवाद करनेका अवसर प्राप्त हुआ था उसमें से कुछ उद्धरण यहाँ पाठकोंके मननार्थ प्रस्तुत करता हूँ। अब वे निर्णय करें कि इसप्रकारके उपदेशके प्रचारसे दान, पूजा, भक्ति आदिकी प्रवृत्तिका प्रसार होगा या अवरोध होगा।

१. मुक्ति अर्थात् पूर्ण आनन्द दशाका कारण चारित्र दशा है वह मुनिधर्ममें है। उसे विरला जीव ही पा सकता है। पृ० १।

२ जो मुनि धर्मका पालन नहीं कर सकें उन्हें देशव्रतकी वृद्धि करनी चाहिए। पृ० १-२।

३. पुण्य और पाप भाव संसारके वास्तविक कारण नहीं हैं, सम्यग्दृष्टिके भी पुण्य पाप भाव होते हैं, लेकिन वे संसारके बीज नहीं हैं। पृ० १२।

४. आत्मभानपूर्वक मुनिपना अंगीकार न किया जा सके तो श्रावक बनना चाहिए। पृ० १४।

५. दुर्लभ मनुष्य भवमें सम्यग्दर्शन पूर्वक श्रावकके षट्कर्म करने चाहिए। पृ० १५।

६. जिस घरमें भगवानकी स्तुति, भक्ति नहीं की जाती वह घर कसाईखानेके समान है। पृ० १८।

७. जो श्रावक छः आवश्यक कर्म नहीं करता उसके गृहस्थाश्रमको धिकार है। पृ० १८।

८. जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति नहीं देखता तथा भक्ति पूर्वक उनकी पूजा, स्तुति नहीं करता उस मनुष्यका जीवन निष्फल है तथा उसके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। पृ० १८।

९. जो शास्त्र नहीं पढ़ते, उनका अध्ययन नहीं करते वे अन्धे हैं। पृ० १९।

१०. ज्ञानके आकांक्षी मनुष्योंको भक्तिपूर्वक निर्ग्रन्थ गुरुकी सेवा वन्दना आदि करनी चाहिए। पृ० १८।

११ अगर जो अपनी अस्थिरता या नग्नताकी लज्जाके कारण मुनि न हो सके तो उसे श्रावकके छः कर्म अवश्य करने चाहिए। किन्तु मनुष्य जन्म और सम्यग्दर्शन व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। पृ० २१।

१२. जो लोभी दानमें लक्ष्मीका उपयोग नहीं करता वह कौएसे भी हलका है। पृ० २६।

१३. ज्ञानीका दान दृष्टिपूर्वक राग कम करनेके लिए है। पृ० २७।

१४ ज्ञानीके दानादि शुभराग संसारसे पार होनेके लिए जहाजके समान है। पृ० २८।

१५ आत्मदान पूर्वक अशुभ दूर हुआ इसलिए दान संसारसे पार होनेके लिए जहाजके समान है। पृ० २६।

१६. मोक्ष दशाका कारण मुनियोंका मोक्षमार्ग है, उसके स्थिर रहनेमें आहार दान परम्परा कारण है। पृ० ३०।

१७ अपने ज्ञान स्वभावसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो तो शरीर निमित्त कहलाता है इसलिए निर्ग्रन्थ मुनिका शरीर चारित्रमें निमित्त होता है। पृ० ३०।

१८ मुनिके वस्त्र पात्र नहीं होते ऐसे मुनिके शरीर टिकनेमें अन्न निमित्त है। अन्न खावे तो शरीर टिके ऐसा नहीं है किन्तु शरीर रहे तो अन्न निमित्त है। पृ० ३०।

१६. मुनिधर्मकी प्रवृत्ति श्रावकसे होती है इसलिए आत्महितके अभिलाषी जीवोंको मुनि धर्मकी प्रवृत्तिका कारण गृहस्थ धर्म धारण करना चाहिए। पृ० ३३।

२०. आत्मभान पूर्वक दान करनेवाला श्रावक केवलज्ञान प्राप्त करेगा। पृ० ३७।

२१. सम्यग्दृष्टि औषधिदानके फलसे चक्रवर्ती बलदेव आदिका पद प्राप्त कर मुक्त होते हैं। पृ० ४१।

२२ रागके अभाव स्वरूप आत्माकी दृष्टि रखनेवाला लक्ष्मीका सदुपयोग दानमें करता है। पृ० ४७।

२३ जिनेन्द्र भगवानकी पूजा, गुरु सेवा, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये छः आवश्यक श्रावकको हमेशा करना चाहिए अगर वह हमेशा नहीं करे तो वह श्रावक कहलाने योग्य नहीं है। पृ० ४६।

२४ जो जिनेन्द्रदेवके दर्शन तथा दानादि नहीं करता वह पत्थरकी नावके समान डूब जाता है। पृ० ५६।

२५ जो गृहस्थ होते हुए भी जिनेन्द्र भगवानके दर्शन नहीं करता, वह श्रावक नहीं है। पृ० ५६।

२६ सर्वज्ञके सनातन मार्गमें जो दृष्टिपूर्वक दर्शन, पूजा नहीं करता वह श्रावक नहीं कहलाता। पृ० ६०।

२७ धर्मात्मा धर्म प्रवृत्तिका निमित्त है अतः धर्मात्मा का आदर करना चाहिए, पृ० ६३।

२८. जो जीव भक्ति पूर्वक जिन मन्दिर आदि बनाते हैं वे धन्य हैं पृ० ६६।

२६. जो आत्मभान पूर्वक जिन मन्दिरका निर्माण कराते हैं उ पुण्यका वर्णन अगम्य है। पृ० ६७।

३०. जो अन्तरङ्गकी शान्तिका आश्रय लेकर राग कम करे श्रावक है। पृ० ६६।

३१ श्रावक देव, गुरु, शास्त्रके प्रति अनुराग रखता है इसे श्रमका धर्म कहा है। पृ० ७०।

३२ श्रावक अणुव्रतका पालन कर देवगति पायेगा, वहाँसे चय कर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। पृ० ७४।

३३ भव्य जीवोंको मोक्षके निमित्त अणुव्रत और महाव्रत ग्रहण करने चाहिए। पृ० ७८।

३४. आत्मदृष्टिसे शुभराग अनर्थ कारक है किन्तु चरणानुयोगकी पद्धतिमें कहा जाता है कि व्रत धारण करो; पृ० ७८।

३५ निश्चयके ग्रन्थोंमें कहा गया है कि व्रत अनर्थके कारण हैं किन्तु साधकको अपनी भूमिका अनुसार शुभराग व्रतादिक अपनानेका राग होता ही है। मुक्त स्वभावका आश्रय करनेसे शान्ति मिलती है किन्तु अपूर्ण अवस्थामें श्रावकको राग आए बिना नहीं रहता, इसलिए उसे अणुव्रत धारण करना चाहिए ऐसा चरणानुयोगमें कहा गया है। पृ० ७६।

३६ आतमभान पूर्वक किए गए देशव्रत स्वर्ग तथा परम्परासे मोक्षका कारण है। पृ० ८०।

निवेदक—

श्री बंशीधरजी शास्त्री, एम० ए०

परमागम का अंग होने से मान्य है, पूज्य है, वंदनीय है, उसी प्रकार मूलाचार, रत्नकरंड श्रावकाचार आदि शास्त्र भी आर्प रचना होनेसे आदरणीय हैं। श्रमणो की अपेक्षा अध्यात्मशास्त्र का महत्व विशेप है, गृहस्थो की दृष्टि से पहले नीति एवं सदाचार का पाठ सिखानेवाले चरणानुयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। सभी शास्त्र आत्मा के विकार को दूर करनेवाली दवा के समान है। रोगी की प्रकृति आदिको देखकर जैसे औपधि दी जाती है, उसी प्रकार जीव की परणति को देखकर योग्य शास्त्र की योजना की जाती है।

(५३) आज जगत्, विपय भोगों की आराधना मे अन्धा वन रहा है। जैन भाई कुल परंपरागत सदाचार को भूल रहे है। रात्रि भोजन, अनछनापानी अभक्ष आहार आदि मे उनकी प्रवृत्ति बढ रहीं है। देव दर्शन उनको दु खद लगता है। शास्त्र विप सदृश लगते हैं। सत्पुरुप शत्रु तुल्य प्रतीत होते हैं। वे कनक तथा कामिनी के दास वन रहे हैं। उनके आगे शुद्ध दृष्टि के अपेक्षा वाह्याचरण का निपेध करनेवाले समयसार सदृश अध्यात्मग्रन्थ का प्रतिपादन विलक्षण तथा विपरीत प्रभाव दिखाता है। वे पाप कर्मोको तो नहीं छोडते हैं। पुण्य को हेय सुनकर हर्पपूर्वक सत्कार्यों को छोडते हैं और पापाचरण द्वारा आगामी स्वविनाश की सामग्री के संग्रह मे उद्यत होते है। इससे जीव का अकल्याण होता हैं।

(५४) कभी-कभी पात्रापात्र आदि का विचार विना किए दी गई अमृतोपम औपधि भी विप सदृश हानि करती है। संग्रहिणी के रोगी को दूध, हलुआ आदि कठिनता से पचने वाले पदार्थ देवे, तो उसके रोग की वृद्धि होगी। वे पदार्थ तो अच्छे है, किन्तु वह मरीज उनका पात्र नहीं है। इसी प्रकार आज का विपयान्ध मानव विचित्र स्थिति मे हैं। पशुओ ने जितना पवित्राचार पाला, उसके लिए भी वह तैयार नहीं है। उसके हाथ मे अध्यात्मशास्त्र रूपी तीक्ष्ण तलवार देने से वह स्वयं अपने अङ्गों को छेद कर दु खी हो रहा है। आज लोगों को ऐसा शास्त्र, शास्त्री तथा गुरु प्रिय लगता है, जो स्वेच्छाचारी जीवन का पोषण करे। ये लोग खाने के लिए जीते

है, जीने के लिए नहीं खाते है। उनके समक्ष नर जन्म का कोई महत्व नहीं है। ऐसे के हाथ मे अध्यात्म शास्त्र देना बच्चे के हाथ मे बन्दूक देने समान अनर्थकारी हो रहा है। अतः आचार्य शान्तिसागर महाराज कहते थे 'पहले लोगों को बंध का शास्त्र चाहिए। समयसार के स्थान मे महाबध चाहिए।' ऐसी स्थिति मे जो क्रमका भंग करके सबको श्रेष्ठ शास्त्र पढाया जाता है, उससे गृहस्थ लोग अपने कर्तव्य से विमुख बन रहे है।

(५५) औषधिके सेवन से असंख्य लोग रोग मुक्त हो नीरोगता प्राप्त करते हुए देखे जाते हैं, किन्तु रोगी के रोग के प्रतिकूल औषधिदान द्वारा भी हजारों बीमार मरण को प्राप्त होते है। इसी से वैद्यराज को कभी-कभी यमराज के सहोदर कहकर पुकारा जाता है,

एक कवि कहता है :—

वैद्यराजः नमस्तुभ्यं यमराज-सहोदर.।
यमस्तु हरति प्राणान् त्वं प्राणान् धनानि च ॥

हे यमराज के सहोदर वैद्यराज। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। यम तो केवल प्राणों का ही हरण करता है, किन्तु आप प्राणों तथा धन दोनो का भी हरण करते है।

चतुर तथा विवेकी वैद्य शोधित विष को योग्य मात्रा में तथा उचित अनुपान मे देकर रोग दूर करता है, किन्तु विवेक शून्य वैद्य अमृतोपम पदार्थ को मात्रा, अनुपानादि के व्यतिक्रम द्वारा देकर प्राण हरण करता है।

यही उदाहरण आज की अध्यात्म चर्चा की प्रचुरता के क्षेत्र मे चरितार्थ होता है। अनेक अनासक्त तथा भोग-विलास मग्न व्यक्ति समयसार की भाव प्रधान प्ररूपणा की ओटमे पापकार्यों मे निमग्न रहते हुए अन्य धार्मिकों का तिरस्कार तथा उपहास करते फिरते हैं। आज चोर कोतवाल को डाटता दिखाई पड रहा है। हमे एक ऐसे समयसार के प्रेमी सज्जन मिले थे, जो देवदर्शनादि को व्यर्थ मानते हुये चमडेके जूते आदि बेचते थे। वह कार्य उनको जैनकुल के विपरीत नहीं दिखाता था। अति सर्वत्र वर्जयेत यह सूक्ति सच मुच मे अर्थपूर्ण है। आज अध्यात्मवाद अतिरेक हो गया है। इससे अध्या-

त्मिक रोग की वृद्धि दिखाई पड रही है। इसी का फल है कि परिग्रह युक्त की पूजा होती है और निर्ग्रन्थ गुरु की उपेक्षा की जाती है। इस रोग में यह विलक्षणता है कि रत्नत्रय के साक्षात् तथा परम्परा रूप साधनों के प्रति विरक्ति ही नहीं उत्पन्न होती है, किन्तु उनके प्रति विद्वेष का भाव भी उत्पन्न होता है, जैसा विद्वेष धर्म के आयतनो के विरुद्ध गृहीत मिथ्यात्वियों मे दृष्टिगोचर होता है।

(५६) अतिरेकपूर्ण दृष्टिवाला व्यक्ति वीतराग प्रणीत पवित्र वाणी में से कपाय पोपक सामग्री को अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा खोजता-फिरता है। जिन भगवान के दर्शन की महिमावाला पद्य इस प्रकार है :—

दर्शनं देव-देवस्य दर्शनं पापनाशनं।
दर्शनं स्वर्ग-सोपानं दर्शनं मोक्षसाधनं॥

यह भोगप्रिय तार्किक कहता है, भगवान के दर्शन से पापों का नाश होता है, वह स्वर्ग की सीढी तुल्य है, एवं मोक्ष का साधन है, अतः दर्शन-मात्र करना चाहिए। किसी त्याग, सयम, नियम, व्रत आदि की आवश्यकता नहीं है। दर्शनमात्र से आत्मा दोप मुक्त वन जायगी।

(५७) अध्यात्मवादी इससे भी आगे वढकर कहता है 'तन मन्दिर के भीतर आत्मदेव विराजमान है, अतः सचेतन मानव का मन्दिर मे जाकर पापाण की मूर्ति का दर्शन अनावश्यक है, व्यर्थ है' इस प्रकार का अतिरेक वहुत अनिष्ट करता है। कहते है धर्मान्ध यवनों के शासन मे वादशाह ने मौलवी से पूछा कि कुरान मे साररूप सव सामग्री है या नहीं ? यदि उसमे सव कुछ है, तो अन्य कितावों के रूप मे कचरा रखना व्यर्थ है। कुरान भक्त मौलवी ने कुरान मे समस्त वस्तुओं का अपूर्व संग्रह कहा, तो इस्लाम भक्त वादशाह ने लाखों ग्रंथों की होली मचवा दी। अध्यात्म के अधिक भक्त भी कहते हैं सम द्वादशाग वाणी मे समयसार शास्त्र मात्र सार है। अन्य ग्रथ तो भुसा के समान है। ऐसे अध्यात्म के मौलवी की राय के अनुसार कोई शासक आचरण करे, तो कितना अनर्थ हो जायगा ? स्याद्वाद की मनोज्ञ वाटिका उजड जायगी। सारा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।

(५८) चंचल मन जब एक विषय को जानते २ थक जाता है। तब आगमज्ञ मुनीन्द्र उसे ज्ञान के अन्य अंगों मे लगाते हैं। वे जानते है यदि इस मन को क्षण भर भी छुट्टी दे दी, तो यह कल्पना तीत उत्पात कर डालेगा। अत मन पर पवित्र ज्ञान का निरन्तर अंकुश आवश्यक है। विविध सुरभि सम्पन्न सुमनों से समलंकृत स्याद्वाद के उद्यान का भ्रमर बनने वाला मुमुक्षु दुष्ट विकल्पों का नाश करता हुआ आत्म चिन्तन के कार्य मे स्थिर बुद्धि होता है।

गौतम स्वामी पहले जैन शास्त्रों को दोष पुंज समझा करते थे। महावीर तीर्थंकर के पादमूल मे उनकी दृष्टि विकाररहित हो गई, अत. समस्त जिनागम उनके लिए अमृतसिंधु सदृश बन गये। जिसकी बुद्धि उलझी हुई है, उसे जिनवाणी मधुर नहीं लगती है। विशिष्ट क्षयोपशमधारी तथा निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त करने वाली आत्मा को समस्त जिनवाणी सुखद लगती है। कल्याणपूर्ण प्रतीत होती है।

वाद्य-वादन कला मे अन्य व्यक्ति द्वारा बजाया गया वाद्य बहुत कटु लगता है, किन्तु सप्त स्वरो का मर्मज्ञ जब उस वाद्य को बजाता है, तब पशु तक हर्षित होते है। इसी प्रकार सप्त स्वर सदृश सप्त दृष्टि समन्वित जैनेश्वरी वीणा के मधुर संगीत को सुनकर मुमुक्षु वर्ग का मन-मयूर नृत्य करने लगता है। एक ही स्वर को सदा बजाने वाला ज्ञानीजनों के प्रेम को नहीं प्राप्त करता है। सम्यक्त्वी जीव द्वादशांग वाणी का भक्त रहता है, उसमे तथा एक ही बात को ठीक मान शेष आगम को व्यर्थ मानने वाले तथा स्वयं को जिनेश्वर का लघुनन्दन समझने वाले मानमूर्ति मानव मे इतना ही अन्तर है जितना कि हंस में तथा बकराज मे। स्थूल स्थितिमें दोनों समान लगते हैं किन्तु उनकी अन्तरंग प्रवृत्ति मे अपार अन्तर है। हस तुल्य मानव शास्त्र के प्रकाश मे जीवन को विशुद्ध बनाता हुआ, असत्प्रवृत्तियों के परित्याग निमित्त उद्यत रहता है, तो बकवृत्ति बक्री व्यक्ति शास्त्र का आश्रय ले स्वेच्छा चारिता तथा विषय-सेवन का पोषण करता फिरता है। कवि की यह उक्ति अत्यन्त मार्मिक है:—

हंसा बगुला एक सम मानसरोवर माहिं।
वगुला खोजे माछरी हंसा मोती खाँहि॥

(५६) अतएव हंस समान मोती खोजने की दृष्टि मुमुक्षु वर्ग मे उत्पन्न होनी चाहिए। सारा संसार सदाचरण की गुण-गरिमा गाता है। गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह जिनेन्द्रोक्त अपने षट् कर्मों के पालन मे प्रमाद न करे। षट् कर्मों अर्थात् देव पूजा, गुरु पूजा, स्वाध्याय, संयम, तप तथा दान में संलग्न रहते हुए उसकी दृष्टि रत्नत्रय धारी मुनीन्द्रों के चरणों पर रहनी चाहिए, जिस प्रकार त्रेसठ अङ्कों मे छह का अङ्क तीन के अङ्क के उन्मुख रहता है। रत्नत्रय धारी के विमुख होने वाला व्यक्ति छत्तीस सदृश परस्पर विपरीतता को प्राप्त होता है। गृहस्थ को कम-से-कम अपने अन्त करण मे निर्ग्रन्थ पदवी के प्रति आदर भाव धारण करना चाहिए।

(६०) भोगी जीव पतन को प्राप्त होता है। विषय भोग कुछ काल के वाद स्वय छूटते है, अत. विवेकी मानव का कर्त्तव्य है कि वह भोगरूपी पंक से अपने को बचाता हुआ त्याग का पवित्र मार्ग स्वीकार करे। यदि त्याग का मार्ग शाश्वतिक शान्ति को नहीं देता, तो तीर्थंकर भगवान उस मार्ग को क्यो स्वीकार करते? उनने तो यह अनुभव बताया है कि इष्ट वस्तुओं के सेवन से तृष्णा की ज्वाला जला करती है। अत. आत्म सुख के हेतु भोगों का त्याग आवश्यक है। जैसे तूंवी मृत्तिका का त्याग कर सरोवर के ऊपर आ जाती है, इसी प्रकार विभाव तथा विकार को त्यागकर यह जीव लोक शिखर पर सिद्ध परमात्मा बन जाता है।

(६१) अनादि कालीन मोह ज्वर के कारण अशक्तता का अनुभव करनेवाले जीव के लिए अरहंत, सिद्ध, साधु तथा केवली कथित धर्म का शरण ग्रहण करना मगलमय है। उसे सदा चार वातों को ध्यान से रखना चाहिए।

(१) अरहतमंगलं, सिद्धमंगलं, साहूमंगलं, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं। ये ही शरण रूप है।

(२) प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य ये सम्यक्त्वी के चार लक्षण हैं। ये गुण धारण करने योग्य हैं।

(३) प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग रूप जिनवाणी का स्वाध्याय करना चाहिए।

(४) दान, पूजा, शील तथा पर्व मे उपवासरूप श्रावक के लिए निर्धारित आचार का पालन करना चाहिए। महापुराण मे कहा है —

दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्णुयोषितम्।
धर्मः चतुर्विध सोयमाम्नातो गृहमेधिनाम ॥

उपरोक्त चार बातो को सदा ध्यान में रखना चाहिए। उपरोक्त सदाचार का पालन मुमुक्षु का कर्तव्य है। सदाचार का भाव यही है कि वह सदाचार बातों को दृष्टि पथ से रखे।

(६२) समस्त मुनिन्द्र जिन गणधर देव के चरणों को प्रणाम करते जा रहे हैं, उन गणधर गौतम ने धर्म के विषय मे यह कथन किया है :—

धम्मो मंगल मुक्ट्टिं अहिंसा-संजसो-तवो।
देवावि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सयामणो ॥

अहिंसा, संयम तथा तपरूप धर्म श्रेष्ठ मगल है। जिसका मन सदा धर्म मे लीन रहता है, उसको देवगण प्रणाम करते है।

संयमादि की समाराधना के द्वारा जीवको ऐसी मनोभूमिका प्राप्त होती है, कि वह आत्मा ज्ञानज्योति से आत्मनिधि को प्राप्त कर लेती है। विषयासक्त जीव आत्मोन्मुखता शून्य बनता है। पुग्दलोन्मुख बनकर इन्द्रियो के पोषण मे अपने नरभव के असूल्य काल को नष्ट करनेवाले अज्ञानी को आत्मोपलब्धि किस प्रकार होगी ? जिनागम की यह देशना हे कि जीव को विषयो की दासता मे समय नष्ट न करके आत्मचिंतन द्वारा स्वरूप की उपलब्धि करना चाहिए। त्याग धर्म के द्वारा आत्मा विषयों की सेवा से छुट्टी पाता है, तब वह अपनी सच्ची आराधना के योग्य मनोभूमि का निर्माण कर सकता है।

(६३) आत्मार्थी भव्य जनों को अपने हृदय से विचारना चाहिए कि वे विषयार्थी नहीं है। मुमुक्षु हैं। उनको भोगाराधना द्वारा अपने हाथ पात्र बाधनेवाला जाल बुनना योग्य नहीं है। ज्ञान हीन क्रिया की जो अवस्था

होती है, वैसी ही स्थिति क्रिया विहीन ज्ञान की होती है। अतः प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि मानवोचित विवेक पूर्ण कार्य करे। प्रमाद करने योग्य समय नहीं है। कवि की चेतावनी ध्यान देने योग्य है।

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस का है पल की खबर नहीं।

हमें यह सत्य बात नहीं भूलनी चाहिए कि हमारी जीवन डोर को शुक्ल पक्ष, कृष्ण पक्ष रूपी चूहे काट रहे हैं। मधु की एक बिन्दु तुल्य ससार के सुख मे हम न उलझें। आत्म कल्याण के हेतु हमे कुदकुद स्वामी का कथन स्मरण रखना चाहिए —

उत्थरइ जाण जरओ रोयग्गी जाण डहइ देहउडिं।
इंदिय बलंण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३२॥ भावपाहुड।

आत्मन! जबतक बुढापे का आक्रमण नहीं होता, रोगाग्नि देह रूपी झोपडी को नहीं जलाती है, इन्द्रिय बल नष्ट नहीं होता है, तबतक तुमको अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिए। अब मोह निद्रा त्यागने का समय आ गया है। अरे जीव जाग! मा विहरसु अण्ण-दव्वेसु—अन्य द्रव्यों मे विचरण मत कर।

(६४) इस प्रकार गम्भीर विचार द्वारा यह बात स्पष्ट होती है कि जीवन मे सयमशील रहना सदा हितकारी है। नर शरीर की अवस्थिति के लिए प्राण वायु का जो स्थान है, वही स्थान विचारशील मानव के जीवन में संयम परिणाम का होना चाहिए। जो सदा दूसरों को उपदेश दिया करते हैं तथा स्वय इन्द्रियों के दास बने रहते हैं उनसे स्व० आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज कहते थे "तुम दूसरों के कपड़े धोते फिरते हो। अपने वस्त्र कब स्वच्छ करोगे?"

कम से कम संयमी का स्वप्न में भी निरादर नहीं करना चाहिए। संयमी के निरादर का कुफल श्रेणिक राजा का जीव अभी नरक मे भोग रहा है। जैनकुल मे जन्म धारण करने के कारण बिना प्रयत्न स्वयं मास, मदिरा, मधु, रात्रिभोजन, अनछना पानी पीना, अभक्ष्य भक्षण आदि का

त्याग होता था, अब उसको भी लोग भूल रहे है अत. उस मौलिक सदाचरण को स्वीकार करने के साथ सर्वत्र शक्तिभर उसका प्रचार हितकारी है जब तक कोई वस्तु सेवन मे न आवे, तबतक उसका त्याग सरलता से किया जा सकता है। रोगादि के कारण रूप पदार्थों का त्याग उचित है। अनुपसेव्य वस्तुओं आदि का भी संकल्प पूर्वक परित्याग वाछनीय है। इस विषय मे अपने कर्तव्य का ज्ञान करने के लिए पुरुपार्थ सिद्धुपाय, रत्नकरंड श्रावकाचार तथा सागार-धर्मामृत आदि शास्त्रों का समयसार के समान प्रेम, आदर तथा परिश्रमपूर्वक स्वाध्याय, मनन तथा चिंतवन लाभकारी है। सयम के शास्त्रों का भी आदर आवश्यक है। एकान्त का जिद छोडना हितकारी है।

(६५) इस पाप प्रचुर, भोग विलास युक्त वातावरण मे सकल संयम की उज्वल आराधना करने वाले तथा ३६ दिन पर्यन्त अपूर्व सल्लेखना द्वारा नर जन्म रूप कनक भवन के शिखर पर कलश लगाने वाली पूजनीय विभूति चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शातिसागर महाराज का सदा स्मरण कल्याणदायी है। उनके चित्रको प्रत्येक आत्मार्थी को अपने समीप रखना चाहिए। उनके जीवन में रत्नत्रयधर्म का प्रकाश विद्यमान था। अपने को सम्यक्त्वी मानकर अहंकार मूर्ति बनने वालों के द्वारा भुलावे मे न फँसकर अपनी आत्मा के परम कल्याण हेतु आचार्य महाराज के जीवन से सम्यक् श्रद्धा तथा सदाचरण के लिये अंतः प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। उन गुरुदेव ने कहा था आत्मचिंतन किए सिवाय कभी भी मोक्ष नहीं मिलेगा। अतः कम से कम पन्द्रह मिनिट पर्यन्त संकल्प-विकल्प को छोड प्रतिदिन आत्मचिंतन करना चाहिए। इसके द्वारा दर्शन मोहनीय नष्ट होता है, तथा संयम धारण करने से चारित्र मोहनीय नष्ट होता है। इस प्रकार मोहनीय के क्षय के लिए उद्योग करना चाहिए।

(६६) जन साधारण अध्यात्म शास्त्र की विशिष्ट भापा के रहस्य को नहीं जानते, अतः उनके प्रबोध हेतु उनको हिंसानन्द, परिग्रहानन्द आदि आर्त रौद्र ध्यानों से बचने का उपदेश देना आवश्यक है। उपदेश समझ मे आने योग्य होना चाहिए।

(६७) समस्त संकटों के नाश करनेवाले पंच परमेष्ठियों की भक्ति हेतु बाल वृद्ध सभी के मनमे णमोकार मंत्र की प्रतिष्ठा स्थापित करनी चाहिए। इस अपराजित मत्र के द्वारा दुःखी समाज में शाति, संतोप तथा बंधुत्व के भाव जगाए जा सकते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा तत्काल नहीं तो क्रमशः जीवन सम्यक्त्व आदि आत्म गुणों से समलंकृत हो जायगा। प्रत्येक मुमुक्षु को वीतराग की भक्ति रूपी गंगा में डुबकी लगा कर अपनी आत्मा को विशुद्ध तथा प्रसन्न बनाना चाहिए।

(६८) स्वप्न में संपत्ति वैभव तथा प्रभुता का स्वामी वननेवाला निर्धन जागने पर धनवान नहीं वनता है। सपत्तिशाली वनने के लिए उसे कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसी प्रकार मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति भी तपश्चर्या आदि परिश्रम की अपेक्षा रखती है। स्वप्न साम्राज्य के स्वामी के समान "अह सिद्धात्मा, अहं ज्ञानचेतनाधिपतिः, सकल-कर्म कलंक विमुक्तोहं, परमानन्दस्वरुपोह" ऐसा कुछ क्षण चिंतवन करने के पश्चात् शरीर, इन्द्रिय, कामिनी, कंचन आदि की सेवा मे संलग्न हो कृष्णलेश्यादि की भयावह मुद्रा स्वीकार करनेवाले की उस गजराज सदृश स्थिति होती है, जो स्नान के अनंतर ही अपने शरीर को धूलिपुज से मलिन वनाता है। आध्यात्मिक स्वप्न दूर होते ही सिद्धात्माओ के समीप वैठनेवाला यह जीव वहिरात्मा वनता हुआ पतित प्राणियों की पंक्ति मे वैठकर भिक्षुक तुल्य प्रवृत्ति करता है।

(६९) कर्मों के सम्राट मोह का क्षय करने के लिये अपार आत्मशक्ति का संचय आवश्यक है। यह कार्य शिशुवत स्वच्छन्द प्रवृत्ति द्वारा संपन्न नहीं होता है। भोगी व्यक्ति स्वयं मोह के जाल मे फँसा हुआ मोहके चरणों का चूमा करता है। वह क्या मोह का क्षय करेगा? योगी, विरागी तथा त्यागी ही कर्मों का नाश करता है।

(७०) नाटकके नरेश द्वारा साम्राज्यकी उपलब्धि तथा उसका रक्षण नहीं वनता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वी का अभिनय करनेवाले पुरुप के द्वारा निर्वाण-साम्राज्य नहीं प्राप्त हो सकता। जीवन गुलाव के पुष्पों की शय्या

नहीं है। "Life is not a bed of roses"। जीवन संग्राम भूमि है। पराक्रमी वीर ही उसमें जयश्री प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् की बात है। विलासी, विषयलोलुपी, असंयमी व्यक्तियों के द्वारा आत्मा की शक्तिका नाश होता है। जितेन्द्रिय व्यक्ति लौकिक तथा आध्यात्मिक सफलताओं का स्वामी होता है।

(७१) जो लोग सम्यक्त्व की महिमा गाते हुए यह कहते है कि सम्यक्त्व के अनन्तर संयमादि धारण करना चाहिये, वे यह नहीं सोचते, कि जबतक सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हुई है, तब तक किस प्रकार जीवनचर्या रखी जाय ? क्या आगम मे कहीं ऐसा लिखा है कि यदि सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हुई है और यदि किसी सत्पुरुष ने प्रतिमा रूप नैष्ठिक के व्रत के लिये अथवा समस्त पापो का त्यागकर परम अहिंसामयी मुनि पदवी धारण कर ली, तो इससे उस जीव की कुगति हो जायगी और वह दुःखी हो जायगा ? ऐसा एक भी वाक्य नहीं मिलेगा।

(७२) त्रिलोकसार गाथा ५४७ मे बताया है कि मिथ्यात्व सेवी कांजी भोजी पाखंडी आजीवक सम्प्रदाय के साधु व्रतादि के आश्रय से सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं, तब जिनशासन की आज्ञा को शिरोधार्य कर हिंसा, असत्य, अब्रह्म, स्तेय तथा परिग्रहादि का त्याग कर प्राण-पण से शक्ति भर उज्वल जीवन व्यतीत करनेवाली आत्मा क्यों हीन स्थिति को प्राप्त होगी ?

(७३) अतएव परपरा से प्राप्त समस्त जिनागम के मंगल प्रकाश मे अपनी मलिन धारणाओं का सशोधन कर जीवन को विशुद्ध करने के पथ मे प्रवृत्ति करनी चाहिये। प्रयत्नशील विवेकी व्यक्ति यशस्वी होता है। कवि की यह वाणी हृदयंगम करने योग्य है :—

गाढ गह्यो सोही तिर्‍यो कहा साह कहा चोर।
अंजन भया निरंजना सेठ वचन के जोर॥

अतएव देव गुरू तथा शास्त्र के विषय मे अविचलित श्रद्धा की जागृति अत्यन्त आवश्यक है। इस श्रद्धा के अभाव मे आत्म विद्या की उपलब्धि आकाश के पुष्पों के मुकुट सदृश असद्भावात्मक है।

(७४) जिस तरह एकान्त क्षणिकवाद, एकान्त नित्यवाद स्याद्वाद दृष्टि के प्रतिकूल होने से अपरमार्थ हैं, इसी प्रकार अध्यात्म का एकान्तवाद भी अपरमार्थ रूप है। अध्यात्म शास्त्रों का स्पर्श करते ही अपने को जीवनमुक्त समझनेवाले भाइयों को यह नहीं भूलना चाहिये कि स्याद्वाद का तीक्ष्णशस्त्र उस आत्मा के एकान्तवाद की उसी प्रकार योग्य चिकित्सा करता है, जिस प्रकार उसके द्वारा तीन सौ त्रेसठ कुवादों की मरम्मत की जाती है। यह अनेकान्त रूप चक्र यदि अविवेकी के हाथ मे आ गया और उसने यथा विधि इसको न चलाया तो उसके द्वारा स्वयं का सहार होना अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

(७५) व्यवस्थित ढग से तलवार चलाने की कला को विना सीखे यदि कोई अजानकार चमचमाती नगी तलवार लेकर घुमाता है, तो वह स्वयकी मृत्यु का कारण बन जाता है। इसी प्रकार की स्थिति अकुशल हाथों मे स्याद्वाद चक्र द्वारा उत्पन्न होती है। निश्चय का एकान्त पक्ष धारण करने वालों को तथा व्यवहार को ही एक मात्र साध्य माननेवालो को यह बात स्मरण करना चाहिये कि स्याद्वाद चक्र किसी भी एकान्त पक्ष का विनाश करने मे चुप नहीं रहेगा। अमृतचन्द्र सूरिका कथन हैं :—

अत्यन्त निशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम॥

जिनेन्द्र का नयचक्र अत्यन्त तीक्ष्णधार युक्त है। वह कठिनता से प्राप्त होता है। तथा धारण किये जाने पर वह मिथ्याज्ञानियों के मस्तक को खंडित करता है।

(७६) इस जिनेन्द्र के नयचक्र को हाथ मे ले महाज्ञानी आचार्य समंत-भद्र, तार्किक अकलंक, प्रभाचन्द्र आदि ने अनेक एकान्तवादियों के अन्त -करण मे स्याद्वाद शासनकी प्रतिष्ठा स्थापित की है। उन आचार्यों की वाणी से पूर्णतया अपरिचित तथा अज्ञान सिन्धु मे अवगाहन की असमर्थतावाला व्यक्ति उनके कथन की उपेक्षा कर अपने अज्ञान पर सुन्दर आवरण डालता हुआ नहीं सोचता कि वह अपना तथा अपने भक्तो का कितना अहित कर

रहा है। अहो रूप तथा ध्वनि रूप प्रशंसा का मोक्ष मार्ग में कोई स्थान नहीं है। मुमुक्षु वर्ग का कर्तव्य है कि द्वादशाग वाणी के दर्पण मे अपना मुख देखकर मलिनता का संकोच छोडकर निर्भय हो परित्याग करें। यश मोह वश अपने को ही सत्य का स्वामी समझनेवाला ज्ञाता सर्वज्ञ जाने किस पर्यायमें जाकर कैसे रूपमे कर्मफलको भोगेगा? हम भविष्यका विना विचार किए थोडी सी देर के अहकार के वशीभूत हो ऐसा जटिल कर्मों का जाल वुन लेते है, कि उससे सागरों पर्यन्त पीछा नहीं छूटता है। एकान्त पक्षवालों को कम से कम अपनी आत्मा पर तो दया करनी चाहिए। यह धारणा कि सत्य का स्वरूप कुंदकुद स्वामी के वाद मेरी ही समझ मे आया है तथा मेरे शिष्य ही निकट भविष्यमें मोक्ष जावेंगे, भयावह है। इससे वढ़कर मिथ्यात्व का उदाहरण खोजने के लिए पर्याप्त परिश्रम करना होगा।

(७७) कोरा व्यवहार पकडनेवाला व्यक्ति सदाचरण के प्रसाद से नरक तिर्यंच मे नहीं जायगा, किन्तु अध्यात्मवाद के नशे मे मग्न, जिसने हिंसादि महापापों से अपना सम्बन्ध रखा, तथा अपने मलिन कार्य को अकलंक समझ, किस गति की शोभा वढायगा यह प्रत्येक विवेकी विचार सकता है। आज की आवश्यकता यह है कि महापापों तथा दुर्व्यसनों से भोले जीवों को विमुख कराया जाय। उच्च तत्वज्ञान की चर्चा करनेवाले स्वयं हृदय पर हाथ रखकर सोचे कि वे कितने पानीमे हैं। प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि कविके इन दिव्य विचारों के प्रकाश द्वारा अपने अन्तःकरण को आलोकित करें।

ऐसो श्रावक कुल तुम पाय वृथा काहे खोवत हो ॥टेक॥

कठिन-कठिन कर नरभव पाई, तू लेखी आसान।
धरम विसार विषय मे राचो मानी न गुरु की आन ॥वृथा०॥१॥

चक्री एक मतंग जु पायो तापर ईंधन ढोवे।
बिना विवेक विना मति ही के अमृत सो पग धोवे ॥वृथा०॥२॥

काहू शठ चिंतामणि पायो मरम न जानो तास।
वायस देखि उदधि में फेंक्यो फिर पाछे पछतात ॥वृथा०॥३॥

सात विसन आठों मद त्यागो कहना चित्त विचारो।
तीन रतन हिरदै मे धारो आवागमन निवारो ॥वृथा०॥४॥

'भूधर' कहत सुनो भाई भवीजन चेतन अब तो सम्हारो।
प्रभु को नाम तरन-तारन जपि कर्म फन्द निरवारो ॥वृथा०॥५॥